अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥

१. **हिरण्यगर्भः**=(हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य) सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ जिसके गर्भ में हैं वह परमात्मा **अग्रे**=सृष्टि के बनने से पूर्व ही **समवर्त्तत**=है, अर्थात् वे प्रभु कभी बने नहीं। सदा से **जातः**=आविर्भूत हुए-हुए वे प्रभु **भूतस्य**=पृथिवी आदि भूतों को तथा सब भूतमात्र, सब प्राणियों के **एकः**=अद्वितीय **पतिः**=रक्षक हैं। अपने रक्षणकार्य में प्रभु को किसी अन्य चेतनसत्ता की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे अपने कार्य में पूर्ण सशक्त होने से 'सर्वशक्तिमान्' हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पृथिवीम्**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक को **द्याम्**=प्रकाशमय द्युलोक से **उत**=और **इमाम्**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहा है। तीनों लोकों का धारण करने के कारण ही वे त्रिलोकीनाथ हैं। ३. **कस्मै**=सुखस्वरूप **देवाय**=जीव के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, यज्ञशेष के सेवन से **विधेम**=हम पूजा करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, वे सबके रक्षक हैं। त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। उनकी उपासना त्यागपूर्वक उपभोग से, हवि के द्वारा ही होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**निचृदाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सूर्य में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा। यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः॥२॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह के द्वारा गृहीत होते हैं। जैसे उत्तम विवाहित पत्नी अनन्यभाव से पति का ही स्मरण करती है, उसी प्रकार जब जीव परमात्मा का अनन्यभक्त बनता है, उस समय परमात्मा के साथ वह विवाहित-सा हुआ प्रतीत होता है और इस अनन्यभाव से भजन करने पर ही वह परमात्मा को ग्रहण कर पाता है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णामि**=मैं उस यज्ञ को स्वीकार करता हूँ। यह यज्ञ तुझ प्रजापति के लिए प्रीतिपूर्वक सेवित होता है। प्रभु यज्ञरूप हैं, यज्ञ ही उन्हें प्रिय है, सृष्टि के प्रारम्भ में यज्ञसहित प्रजाओं को प्रभु ने उत्पन्न किया और कहा कि यह यज्ञ ही तुम्हारी वृद्धि का कारण बनेगा। वस्तुतः यह यज्ञ ही प्रजापति है। ३. **एषः**=यह यज्ञ का ग्रहण करनेवाला मैं **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान होता हूँ। मेरे हृदय में तेरा प्रकाश होता है। ४. हे प्रभो! यह **सूर्यः**=सूर्य **ते**=तेरी **महिमा**=महिमा है—तेरी महिमा का प्रतिपादन करनेवाला है। ५. हे प्रभो!

यः=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **अहन्**=दिन में **संवत्सरे**=वर्ष में **सम्बभूव**=है, **यः** =जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **वायौ**=वायु में **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **सम्बभूव**=है। **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **दिवि**=द्युलोक में तथा **सूर्ये**=सूर्य में **सम्बभूव**=है। **तस्मै**=उस तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए **देवेभ्यः च**=और देवों के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग हो, अर्थात् स्वार्थ का त्याग करके दिव्य वृत्ति को अपनाकर मैं भी प्रभु के समान महिमा को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ, प्रजापति बनता हूँ और दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनता हूँ। ६. विचारशील पुरुष के लिए क्या दिन में क्या वर्ष में, वायु में व अन्तरिक्ष में, सूर्य में व द्युलोक में सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनन्यभक्ति हमें प्रभु-दर्शन करानेवाली हो। हम सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए सूर्य के समान तेजस्वी बनें। इस तेजस्विता की प्राप्ति के लिए स्वार्थत्याग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

ईश

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्राणतः**=प्राण धारण करनेवाले तथा **निमिषतः**=सदा आँखों को बन्द करके रहनेवाले **जगतः**=दो भागों में विभक्त जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा से **एकः इत्**=अकेला ही **राजा**=नियन्त्रण करनेवाला है। संसार स्थूलतया दो भागों में विभक्त है। (क) मनुष्यादि प्राणी जो प्राणधारण कर रहे हैं तथा (ख) वृक्षादि जो सदा आँखों को बन्द करके सुप्तावस्था में हैं। प्रभु इस सम्पूर्ण संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उन्हें अपने इस शासनकार्य में किसी अन्य चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं ही शासन कर रहे हैं। उनकी महिमा महान् है। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवालों के, पक्षियों के तथा **चतुष्पदः**=चार पैरवाले पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य का कारण है। शहद की मक्खियाँ जो शहद बनाती हैं, चील जो आकाश में घण्टों पंखों को फैलाये उड़ती रहती है, सिंह जो तीव्रतर धारा को सीधा पार कर जाता है, यह सब प्रभु का ही ऐश्वर्य है। मनुष्य परमेश्वर प्रदत्त वासना से न चलकर बुद्धि से चलता है। इस बुद्धि के विकास के साथ-साथ वह उन्नत होता चलता है और उन सब पशु-पक्षियों को पराजित करके आगे बढ़ जाता है। वास्तव में तो प्रभु ने मनुष्य के लिए उस-उस पशु-पक्षी में उस-उस ऐश्वर्य को आदर्श के रूप में रखा है कि तूने यहाँ पहुँचना है। उदाहरणार्थ **'वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः'**=जो अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पक्षियों के उड़ने के तत्त्व को समझता है वह आकाशीय विमान और समुद्र में चलनेवाली नौकाओं को भी बना सकता है। ३. इस पशु-पक्षियों में ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले **कस्मै**=आनन्द-स्वरूप **देवाय**=सब कुछ देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें।

भावार्थ—प्रभु द्वारा पशु-पक्षियों में प्राप्त करायी गई उस-उस प्रवीणता को हम भी प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए प्रभु का उपासन करें, प्रभु के उपासन के लिए 'हविर्भुक्' बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**विकृतिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

चन्द्र में प्रभु-दर्शन

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा॥४॥

१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=विवाह द्वारा गृहीत होते हैं। पत्नी जिस प्रकार पति का, उसी प्रकार अनन्यभाव से जब हम आपका भजन करते हैं तब आपका ग्रहण कर पाते हैं। अनन्यभजन ही आपकी प्राप्ति का प्रधान साधन है। २. **प्रजापतये त्वा जुष्टम्**=तुझ प्रजापति के लिए अत्यन्त प्रिय इस यज्ञ को **गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। प्रभु हमें सदा इस 'श्रेष्ठतम कर्म'=यज्ञ की प्रेरणा देते हैं। ३. हे प्रभो! इस तेरे प्रिय यज्ञ का सेवन करनेवाला **एषः**=यह मैं **ते योनिः**=तेरा स्थान बनता हूँ। मेरा हृदय आपका निवासस्थान बनता है। ४. **चन्द्रमाः**=यह चन्द्रमा **ते महिमा**=तेरी महिमा है। ५. **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **रात्रौ**=रात्रि में **संवत्सरे**=संवत्सर में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर तथा **अग्नौ**=अग्नि में **सम्बभूव**=है, **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **नक्षत्रेषु**=नक्षत्रों में **चन्द्रमसि**=और चन्द्रमा में **सम्बभूव**=है, **तस्मै**=उस **ते**=तेरी **महिम्ने**=महिमा के लिए, **प्रजापतये**=प्रजापति के लिए, यज्ञ के लिए तथा **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम स्वार्थत्याग करते हैं। स्वार्थत्याग के अनुपात में ही हमें महिमा प्राप्त होगी, हम प्रजापति बन सकेंगे तथा दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का ग्रहण अनन्यभाव से प्रभु का भजन करने पर होता है। चन्द्रमा में प्रभु-दर्शन करते हुए हम सचमुच अपने मनों को चन्द्रमा के समान शीतल, ज्योत्स्नावान् बनाएँ, आह्लादमय बनाएँ। इस आह्लादमयता के लिए हम स्वार्थ से ऊपर उठें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ब्रध्न-योग

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥५॥

१. गतमन्त्र के 'उपयाम' व प्रभु से विवाह, प्रभु के ही अनन्यभाव से भजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **युञ्जन्ति**=ये उपासक उस प्रभु को अपने साथ जोड़ते हैं। किस प्रभु को (क) **ब्रध्नम्**=जो महान् हैं। प्रभु महत्ता की चरम सीमा हैं, प्रभु से अधिक महान् कोई नहीं। (ख) **अरुषम्**=जो (अ+रुषम्) क्रोध नहीं करता है व आरोचमान—सर्वतो देदीप्यमान हैं। (ग) जो **परितस्थुषः**=चारों ओर स्थित पदार्थों में **चरन्तम्**=विचरण कर रहे हैं, अर्थात् जो पदार्थमात्र में विद्यमान हैं। (घ) और जिस प्रभु की शक्ति से **दिवि**=द्युलोक में **रोचना**=देदीप्यमान सूर्यादि पदार्थ **रोचन्ते**=चमक रहे हैं। इस सूर्यादि के चमकानेवाले प्रभु को अपने साथ जोड़के यह उपासक भी उन्हीं की भाँति चमकने लगता है।

भावार्थ—उपासना द्वारा प्रभु को अपने साथ जोड़ना ही योग है। वे प्रभु महान् हैं, आरोचमान हैं, चारों ओर स्थित पदार्थों में विद्यमान हैं, उसी प्रभु की शक्ति से द्युलोक में सूर्यादि पदार्थ देदीप्यमान हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

रथ-योजन

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥६॥

१. ये उपासक लोग **रथे**=शरीररूप रथ में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। रथ में जुतकर ही ये घोड़े इसकी यात्रा को पूर्ण करवाने में सहायक होंगे। जो घोड़े सदा चरते ही रहते हैं उनकी क्या उपयोगिता? इसी प्रकार जो इन्द्रियाश्व भोगों को ही भोगने में लगे हैं वे स्पष्ट ही व्यर्थ हैं। वे दस-के-दस जब रथ में जुते होते हैं तो हम 'दश-रथ' बनते हैं। जब ये भोगने में लगते हैं और मुख बन जाते हैं तब हम 'दश-मुख' (रावण) हो जाते हैं। २. ये घोड़े कैसे हैं? (क) **अस्य काम्या**=इस रथस्वामी के काम (इच्छा) का सम्पादन करनेवाले हैं। इसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं। (ख) **विपक्षसा**=(पक्ष परिग्रहे) ये घोड़े विशिष्ट परिग्रहवाले हैं। एक ने उत्कृष्ट ज्ञान का ग्रहण किया है तो दूसरे ने विशिष्ट कर्म का परिग्रह किया है। (ग) **शोणा**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्णवाले हैं। (घ) **धृष्णू**=तेजस्विता के कारण ही शत्रु का धर्षण करनेवाले हैं। (ङ) **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। वस्तुतः इन्द्रियाश्वों को मलिन न होने देना, इनको ठीक-ठाक रखना ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करने का प्रमुख साधन है।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को रथ में जोतें और जीवन-यात्रा को पूर्णकर प्रभु के पास पहुँचें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अभ्यावर्तन

यद्वातोऽअपोऽअगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम्।
एतꣳस्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः॥७॥

१. इन्द्रियरूप घोड़े विषयों में जा भटकते हैं, उनको न भटकने देने के लिए आवश्यक है—**यत्**=कि **वातः**=(वा गतौ=अत् गतौ) आत्मा **अपः**=कर्मों को **अगनीगन्**=प्राप्त हो। 'अत सातत्यागमने' धातु से आत्मा शब्द बनता है और 'वा गतौ' से 'वातः'। एवं, वातः व आत्मा पर्याय हैं। **'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्'** में शरीर के प्रतिकूल 'वायुः' आत्मा का ही वाचक है। २. इस कर्मशीलता के द्वारा **यत्**=जब यह **इन्द्रस्य**=इन्द्र के, परमैश्वर्यशाली प्रभु के **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीर को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मशीलता के द्वारा शरीर को इस प्रकार स्वस्थ व तेजस्वी बनाता है कि यह शरीर प्रभु का प्रिय होता है। ३. हे **स्तोतः**=प्रभु के उपासक **नः एतं अश्वम्**=हमारे इस इन्द्रियरूप घोड़े को **अनेन पथा**=इस कर्मशीलता के मार्गों से **पुनः**=फिर **नः आवर्त्तयासि**=विषयों से व्यावृत्त करके हमारी ओर लानेवाला बन, इन्द्रियाश्व प्रभु की ओर चलनेवाले तभी होते हैं जब विषयों के बन्धनों से बद्ध नहीं होते। इनको विषयों से प्रत्यावृत्त व प्रत्याहृत करके ही हम आत्मतत्त्व का दर्शन किया करते हैं। उपनिषद् के शब्दों में—**'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्'**=कोई एक-आध ही ऐसा धीर पुरुष होता है जो आवृत्त चक्षु होकर अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को देखता है।

भावार्थ—जीवात्मा वात=वायु क्रियाशील है। क्रियाशीलता से यह अपने इस शरीर को प्रभु का प्रिय बनाये रखता है। इस क्रियाशीलता के मार्ग से हमें इन्द्रियाश्वों को विषयों से व्यावृत्त करके आत्मतत्त्व का दर्शन करना चाहिए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**वाय्वादयः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

अञ्जन (Decoration)

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजी३॥ञ्छाची३॥न्यव्ये गव्यऽएतदन्नमत्त देवाऽ एतदन्नमद्धि प्रजापते॥८॥

१. **वसवः**=वसुनामक आठ देव अथवा शरीर में उत्तम निवास के लिए आवश्यक तत्त्व **त्वा**=तुझे **गायत्रेण छन्दसाः**=(गयाः प्राणाः तन् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल इच्छा से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। साधक की सर्वप्रथम कामना यही होनी चाहिए कि उसकी प्राणशक्ति ठीक रहे। २. **रुद्राः**=रुद्र अथवा 'रोरूयमानो द्रवति' जो प्रभु के नाम का निरन्तर उच्चारण करता हुआ गतिशील होता है, वही तो रुद्र है। ये प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य को करने की भावनाएँ **त्वा**=तुझे **त्रैष्टुभेन छन्दसा**=(त्रि+स्तुप्) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की प्रबल कामना से **अञ्जन्तु** =अलंकृत करें। मनुष्य प्रभुस्मरण करता है, कार्य में लगा रहता है। बस, यह बात उसे कामादि से दूर रखती है। यह व्यक्ति काम, क्रोध व लोभ का शिकार नहीं होता। ३. **आदित्याः**=बारह आदित्य अथवा सब जगह से अच्छाई के ग्रहण करने की वृत्ति **त्वा**=तुझे **जागतेन छन्दसा**=लोकहित करने की प्रबल भावना से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। लोकहित वही कर सकता है जो सब जगह से अच्छाई को ग्रहण की वृत्तिवाला बने। ४. 'गायत्र छन्द से' तू **भूः**=पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाला होगा, 'त्रैष्टुभ् छन्द से' तू **भुवः**=आकलन, चिन्तन व ज्ञानवाला बनेगा। कामादि ही तो ज्ञान का आवरण बने रहते हैं। 'जागत छन्द से' तू **स्वः**=पूर्ण सुख को प्राप्त करनेवाला होगा। ५. **लाजीन्**=(योऽयं लाजानां समूहो लाजीनित्युक्तः—उ०) लाजाओं को **शाचीन्**=(योऽयं सक्तूनां समूहः शाचीनित्युक्तः—उ०) सत्तुओं को **यव्ये**=(यवमयः समूहः—उ०) यवसमूह में अथवा **गव्ये**=(गव्येर्विकारे दध्यादि—उ०) दही आदि में **एतद् अन्नं अत्त**=इस अन्न को खाओ। **देवाः**=देव इसी अन्न को खाते हैं। वस्तुतः यही 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थ ही मनुष्य को सात्त्विक वृत्तिवाला व देव बनाते हैं। हे **प्रजापते**=प्रजा के रक्षक! तू भी **एतत् अन्नं अद्धि**=इसी अन्न को खा। इस अन्न का सेवन तुझे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रजा का रक्षक बनाएगा, मांसाहारी राजा तो प्रजा का भक्षक ही बन जाएगा।

भावार्थ—हममें 'प्रजारक्षण, काम-कोध-लोभ-निवारण व लोकहित' की प्रबल कामना हो। इससे हम स्वस्थ, सज्ञान व सुखी बनेंगे। हम 'धान, सत्तु, जौ व दही' आदि पदार्थों का प्रयोग करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार प्रश्न व उत्तर

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥९॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥१०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में साहित्य में प्रश्नोत्तर के प्रकार से प्रतिपादन की शैली का सुन्दरतम उदाहरण मिलता है। वनपर्व की समाप्ति पर यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यही शैली प्रयुक्त हुई है। २. प्रथम प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन, **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सूर्यः**=सूर्य **एकाकी**=अकेला **चरति**=चलता है। (क) सब ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला परमात्मा सूर्य है। वह अपने कार्यों में दूसरे की सहायता पर निर्भर न करता हुआ अकेला विचरता है। (ख) समाज में संन्यासी भी सूर्य है। वह भी अकेला विचरता है। 'अरुचिर्जनसंसदि'=उसे जनसंघ रुचिकर नहीं होता। (ग) शरीर में सूर्य 'चक्षु' है। यह चक्षु भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करती हुई स्वयं प्रमाण होती है और इस प्रकार अकेली विचरती है। यही भावना 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणाम्' इन शब्दों से कही गई है। (घ) मनुष्य को सामान्यतः यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने कार्यों के लिए दूसरों पर निर्भर न रहकर स्वयं कर सके तभी वह सूर्य के समान चमकेगा। सूर्य के आश्रित अन्य पिण्ड हैं, सूर्य उनका आश्रित नहीं, इसीलिए सूर्य 'सूर्य' है। ३. अब दूसरा प्रश्न यह है कि **स्वित्**=भला **कः**=कौन निश्चय से **पुनः**=फिर **जायते**=प्रादुर्भूत व विकसित होता है। उत्तर देते हुए कहते हैं कि **चन्द्रमाः**=चाँद **पुनः**=फिर **जायते**=विकसित होता है। (क) आधिदैविक जगत् में चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर प्रादुर्भूत होता दिखता है। (ख) शरीर में यह मन के रूप से है 'चन्द्रमा मनो भूत्वा' चन्द्रमा ही तो मन (moon) बनकर हृदय में प्रविष्ट होता है। किसी भी मनुष्य का विकास इस मन के विकास के अनुपात में ही होता है। मन की आह्लादमयता ही मनुष्य के स्वास्थ्य के विकास का भी कारण बनती है। (ग) एक गृहस्थ में नव उत्पन्न सन्तान 'चन्द्र' तुल्य है। यह दिन-ब-दिन विकास को प्राप्त होती चलती है। ४. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **हिमस्य**=शीत का **किं भेषजम्**=क्या औषध है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=आग **हिमस्य**=शीत का **भेषजम्**=औषध है। (क) आधिदैविक जगत् का अग्निदेव तो शीत से त्राण करता ही है। (ख) आधिभौतिक जगत् में जब आन्दोलन ठण्डा पड़ जाता है और लोगों का उत्साह मन्द हो जाता है तब एक नेता अग्नि की प्रतिनिधिभूत वाणी से (अग्निर्वाग् भूत्वा) लोगों में फिर से उत्साह का सञ्चार कर देता है, आन्दोलन में फिर से गर्मी आ जाती है। (ग) शरीर में जब तक यह अग्नितत्त्व विद्यमान रहता है तब तक मनुष्य ठण्डा नहीं पड़ता, मरता नहीं। ५. चौथा प्रश्न है **किम् उ**=और कौन-सा **महत् आवपनम्**=महनीय, महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **भूमिः**=यह पृथिवी ही **महत् आवपनम्**=महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। (क) वस्तुतः सभी बीज इसी भूमि में बोये जाते हैं। यह भूमि ही सब साधनों का क्षेत्र है। (ख) अध्यात्म में 'पृथिवी शरीरम्'=यह शरीर पृथिवी है। इसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसी में दिव्य गुणों व विकास के बीज बोये जाते हैं। इसी में बीज=सोम=वीर्य का आवपन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सोम को इस शरीर में सुरक्षित रखने पर ही सब प्रकार की उत्पत्ति (विकास) निर्भर है।

भावार्थ—हमें सूर्य की भाँति अपराश्रित रूप में विचरना है, अपने कार्य स्वयं करने हैं। मन के विकास से अपने विकास को सिद्ध करना है। अपनी वाणी को अग्नि के समान ओजस्वी बनाकर सर्वत्र उत्साह का सञ्चार करना है और इस शरीररूप पृथिवी में सोम का वपन करते हुए इसे महत्त्वपूर्ण आवपन बनाना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पिलिप्पिला-पिशंगिला

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला॥११॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्युदादयः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥१२॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार ही इन मन्त्रों में भी चार प्रश्न व उत्तर दिये गये हैं। प्रथम प्रश्न है **स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम (प्रथमा स्मृतिविषया—द०) स्मरण व ध्यान की वस्तु **का**=क्या है? अर्थात् सबसे अधिक ध्यान किसपर देना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **द्यौः**=मस्तिष्क **पूर्वचित्तिः**=सबसे प्रथम ध्यान देने का विषय **आसीत्**=है। शरीर में मस्तिष्क उसी प्रकार सर्वोपरि स्थित है जैसे विराट् शरीर में द्युलोक। **'मूर्ध्नो द्यौः'** विराट् शरीर के मस्तिष्क से ही द्युलोक बनता है और यही द्युलोक मस्तिष्करूप से हमारे शरीर में निवास करता है। हमें इस मस्तिष्क का सर्वाधिक ध्यान करना है। २. दूसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **किम्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी **आसीत्**=है। वैदिक साहित्य में आत्मा तथा परमात्मा दोनों को **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इन शब्दों में सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षियों के रूप में चित्रित किया है। इनमें परमात्मा सदावृद्ध व निरतिशय वृद्धिवाले हैं, जीवात्मा अल्प है और यह साधना के मार्ग पर चलकर वृद्धि को प्राप्त करनेवाला है। यह बढ़ता हुआ पक्षी है। जितना-जितना बढ़ता जाता है उतना-उतना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है अथवा जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचता जाता है उतना-उतना बढ़ता जाता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **पिलिप्पिला**=(आर्द्रीभूता-चिक्कणा-शोभन—द०) (श्रीर्वै पिलिप्पिला —श० १३।२।६।१६) आर्द्रीभूत, चिक्कणा व शोभना श्री क्या **आसीत्**=है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=(अव रक्षणे) रोगों व वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाला जीव ही **पिलिप्पिला**=शरीर में स्वास्थ्य की स्निग्धता से चिक्कण, मन में करुणा से आर्द्रीभूत, मस्तिष्क में उत्तम विचारों से शोभन श्रीवाला **आसीत्**=है। जब हम आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हैं तभी हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क श्रीसम्पन्न होते हैं। ४. चौथा प्रश्न है **स्वित्**= भला **पिशंगिला**=(पिशं रूपं गिलति) रूप को निगल जानेवाला **का आसीत्**=कौन है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशंगिला आसीत्**=रूप को निगल जानेवाली है। रात्रि में सब वर्ण समाप्त होकर एक कृष्ण-ही-कृष्ण वर्ण की प्रतीति होती है। इसी प्रकार उस परमेश्वर में रमण करनेवाले (रात्रिः रमयित्री) योगनिद्रागत योगी के इन शरीररूप रूपों का, वल्बों का विलय=मोक्ष हो जाता है। इस योगी को फिर दीर्घकाल तक शरीर नहीं लेना पड़ता।

भावार्थ—सर्वाधिक ध्यान हमें मस्तिष्क का करना है। साधना के द्वारा निरन्तर वृद्धि का यत्न करना है। अपने को आधि-व्याधियों से बचाकर श्रीसम्पन्न होना है तथा प्रभुस्मरण के द्वारा इन शरीरों के परिग्रह से ऊपर उठना है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

अकृष्ण ब्रह्मा

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या।
एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये॥१३॥

१. **वायुः**=शरीर में वैश्वानर (जाठराग्नि) अग्नि के साथ मिलकर पाचनक्रिया को करनेवाला प्राणवायु **त्वा**=तुझे **पचतैः**=भोजनों के ठीक परिपाकों से **अवतु**=रोगों से बचाए। पाचनक्रिया के ठीक न होने पर ही शरीर रोगाक्रान्त हुआ करता है। २. **असितग्रीवः**=न बद्धग्रीवावाला **छागैः**=छेदन-भेदन से तेरी रक्षा करे। संसार में विषय मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं, मनुष्य उनसे बँध जाता है और फिर गर्दन में रस्सी से बँधे पशु की भाँति वह न्याय्य-अन्याय्य मार्गों में उनसे ले-जाया जाता है, परन्तु जो 'असितग्रीव'=विषयों से अ-बद्ध गर्दनवाला होता है वह इन विषय-वासनाओं का छेदन-भेदन करते हुए अपना उत्तम रक्षण कर पाता है। ३. **न्यग्रोधः**=(न्यञ्चति, रोहति) जो निरभिमानता से, नीचे होकर चलता और इस नम्रता से ही विकास व उन्नतिवाला होता है वह **चमसैः**=सत्य, यश व श्री के आचमनों से तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो व्यक्ति नम्र बनता है वही उन्नत होता है और वही सत्य, यश व श्री आदि को प्राप्त करता है। ४. **शल्मलिः**=(शल्=गति मलि=possession, enjoyment) गति को धारण करना अथवा गति में ही आनन्द लेना **वृद्ध्या**=वृद्धि के द्वारा तेरी रक्षा करे। वस्तुतः जो मनुष्य निरन्तर क्रियाशील रहता है, जिसे क्रिया में आनन्द आने लगता है वह सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त होता है। ५. **एषः**=यह असितग्रीव, न्यग्रोध व शल्मलि' नामवाला **स्यः**=वह पुरुष **राथ्यः**=इस उत्तम शरीररूप रथवाला होता है, **वृषा**=यह बलवान् व सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ६. यह **चतुर्भिः पड्भिः**=चारों पुरुषार्थों के साथ, अर्थात् 'धर्मार्थकाममोक्ष' चारों के लिए प्रयत्नशील होता हुआ **इत्**=निश्चय से **आगन्**=प्रभु के समीप प्राप्त हुआ है। ७. प्रभु के समीप प्राप्त होने से यह **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माण करनेवाला बना है, **अकृष्णः च**=इसका कोई कर्म मलिन नहीं हुआ। यह **अकृष्णः**=विषयों से अनाकृष्ट **ब्रह्मा**=महान् निर्माता **नः अवतु**=अपने ज्ञानोपदेशों व कार्यों से हमारा रक्षण करे। इस **अग्नये नमः**=अग्रेणी पुरुष के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्राणों द्वारा भोजन के ठीक परिपाक से हम रोगों से बचे रहें। विषयों से अबद्ध रहकर हम उन्नति के विघ्नों का छेदन-भेदन करें। नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त करके हम सत्य, यश व श्री को धारण करें। गतिशीलता में आनन्द हमारी वृद्धि का कारण बने। हम उत्तम शरीर-रथवाले व शक्तिशाली बनकर धर्मार्थकाममोक्ष चारों का साधन करते हुए परमात्मा को प्राप्त करें। विषयों से अनाकृष्ट व निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति हमारी रक्षा करें। हम इन रक्षक अग्रेणी नेताओं के लिए नतमस्तक हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सोमपुरोगव

संशितो रश्मिना रथः संशितो रश्मिना हयः।
संशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'राथ्यो वृषा' ने क्या किया है? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा **रश्मिना** =ज्ञानरूपी किरणों से युक्त मनरूप लगाम से **रथः**=यह शरीररूप रथ

संशितः=शोभित किया गया है (संपूर्वः श्यतिः शोभने–उ०) अथवा चलने में तीक्ष्ण व उत्तम क्रियावाला किया गया है। २. **रश्मिना**=उसी ज्ञान–किरणयुक्त मनरूपी लगाम से **हयः**=इन्द्रियरूप घोड़े **संशितः**=शोभित व तीक्ष्ण क्रियायुक्त किये गये हैं। ३. **अप्सुजाः**=सदा कर्मों में लगा होनेवाला यह अश्व (=कर्मों में व्याप्त पुरुष) **अप्सु**=प्राणों में **संशितः**=शोभित हुआ है। कर्मों से इसकी प्राणशक्ति बढ़ी है। ४. इस प्रकार कर्मों से बढ़ी हुई प्राणशक्तिवाला यह पुरुष **ब्रह्मा**=बड़ा व निर्माता हुआ है, **सोमपुरोगवः**=यह सोम की रक्षा के द्वारा आगे–और–आगे चलता है (सोमेन पुरः गच्छति)। सोम की रक्षा के द्वारा यह उसकी ऊर्ध्वगति करनेवाला 'शूद्र (शु+उत्+र) होता है, शरीर में उसका प्रवेश करानेवाला 'वैश्य' बनता है, शरीर को सब क्षतों से बचाने के कारण 'क्षत्रिय' होता है और इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर 'ब्रह्म'=ज्ञान से दीप्त 'ब्राह्मण' होता है। इस प्रकार यह सोम के द्वारा अधिक–और–अधिक उन्नति करता चलता है।

भावार्थ–रथ और घोड़ों (शरीर व इन्द्रियों) को वश में करके क्रियाशीलता से अपनी शोभा को बढ़ाकर हम ब्रह्मा बनते हैं और सोम की रक्षा से आगे और आगे चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**विद्वान्**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे॥१५॥

१. गतमन्त्र के 'सोमपुरोगव' से कहते हैं कि हे **वाजिन्**=क्रियाशील व शक्तिशालिन्! तू **स्वयम्**=अपने आप **तन्वम्**=शरीर को **कल्पयस्व**=शक्तिशाली बना। तू औरों का ध्यान न करके 'और करते हैं या नहीं', इसका विचार न करके, स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न कर। २. शक्तिशाली बनकर **स्वयं यजस्व**=औरों की ओर न देखता हुआ स्वयं यज्ञशील बन। ३. यज्ञशील बनकर **स्वयं जुषस्व**=तू स्वयं प्रभु की प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाला बन। ४. इस प्रकार जीवन बिताने पर **अन्येन**=दूसरे से **ते महिमा**=तेरी महिमा **न सन्नशे**=नष्ट नहीं की जा सकती, अर्थात् तेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

भावार्थ–हम औरों की ओर न देखते हुए तथा औरों पर आश्रित न होते हुए अपने शरीर को शक्तिशाली बनाएँ, यज्ञशील बनें, प्रभु के उपासक हों। हम यह विश्वास रक्खें कि हमारे महत्त्व को कोई दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। स्वयं हम ही ग़लती से नष्ट कर लें तो और बात है।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**सविता**। छन्दः–**जगती**। स्वरः–**निषादः**।

अमरण–अहिंसन

न वाऽउऽएतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ऽइदेषि पथिभिः सुगेभिः।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥१६॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार औरों की ओर न देखते हुए जब हम स्वयं अपने को शक्तिशाली बनाते हैं, यज्ञशील होते हैं, प्रीतिपूर्वक उपासन करनेवाले बनते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **एतत्**=यह तू **वै उ**=निश्चय से **न म्रियसे**=मरता नहीं है **न रिष्यसि**=तू हिंसित नहीं होता। इस मार्ग पर चलने से तेरा शरीर व्याधियों से आक्रान्त होकर असमय में चले जानेवाला नहीं होता और तेरा मन भी आधियों से अभिभूत होकर हिंसित नहीं होता। तेरा

शरीर नीरोग होता है तो मन निर्मल। २. **सुगेभिः पथिभिः**=साधुगमन मार्गों से, अर्थात् उत्तम मार्गों से चलता हुआ तू **इत्**=निश्चय से **देवान् एषि**=देवों को, दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ३. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज वह प्रभु **त्वा**=तुझे **तत्र**=उस मार्ग में **दधातु**=स्थापित करे **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=उपविष्ट होते हैं और **यत्र**=जहाँ **ते**=वे **ययुः**=जाते हैं व चलते हैं। तेरा मार्ग सदा पुण्यशालियों का ही मार्ग हो, उन्हीं देवों के मार्ग से तू चलनेवाला हो, अर्थात् तेरा मार्ग 'देवयान-मार्ग' हो।

भावार्थ—देवयान-मार्ग से चलते हुए हम व्याधियों से मृत्यु को प्राप्त न हों और काम-क्रोध-लोभादि आधियों से हिंसित न हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि-वायु-सूर्य

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त सऽएतं लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैताऽअपः॥१७॥

१. गतमन्त्र के देवयान-मार्ग में देव अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सबसे प्रथम इस पृथिवीलोक के ग्यारह देवताओं का मुखिया यह **अग्निः**=अग्निदेव **पशुः आसीत्**=(दृश्यः—द०) दर्शन व ज्ञान का विषय बनता है। इस अग्निदेव का ज्ञान प्राप्त करके **तेन**=उस अग्निदेव के साथ **अयजन्त**=वे अपना मेल बढ़ाते हैं (यज्=सङ्गतिकरण)। इस अग्नि को अपने विविध यत्नों से उपयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः इस अग्नि के ज्ञान व प्रयोग से **सः**=यह अग्नितत्त्व का वेत्ता ज्ञानी पुरुष **एतं लोकम्**=इस पृथिवीलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् अग्निः**=जिस लोक में यह अग्नि मुख्य देवता है **सः लोकः**=वह लोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=हो जाएगा, **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू विजय कर लेगा। वस्तुतः बिना ज्ञान के हम इन अग्नि आदि देवों को अपना नहीं बना सकते। इनसे उपयुक्त लाभ नहीं ले-सकते। इनका विजय इनके ज्ञान से ही होता है। इसके लिए तू **एताः अपः**=शरीर में रेतस्रूप से रहनेवाले इन अप्कणों का (आपः रेतो भूत्वा०) **पिब**=पान कर। इनको तू शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न कर। २. अग्नि के ज्ञान के पश्चात् **वायुः पशुः आसीत्**=अन्तरिक्षलोक के देवताओं का मुखिया यह वायुदेव ज्ञान का विषय हुआ। इन देवों ने वायु का ज्ञान प्राप्त किया। **तेन अयजन्त**=उस वायुदेव से इन्होंने अपना सङ्ग बढ़ाया। इसे अपने यत्नों व व्यवहार में उपयुक्त किया और अब **सः**=इसने **एतं लोकं अजयत्**=इस वायु के आधारभूत अन्तरिक्षलोक को जीत लिया। इस विजय से **यस्मिन् वायुः**=जिसमें यह वायु मुख्यदेव है **सः लोकः**=वह अन्तरिक्षलोक **ते**=तेरा **भविष्यति**=होगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। **एता अपः पिब**=तू इन सोमकणों को अपने अन्दर व्याप्त करने का प्रयत्न कर। वायु का ठीक ज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य अन्तरिक्षलोक में अपने वायुयान आदि को चला पाता है और इस लोक को जीत लेता है। ३. अब अग्नि व वायु के ज्ञान के पश्चात् इन देवों का **सूर्यः**=द्युलोकस्थ देवों का मुख्यदेव सूर्य **पशुः आसीत्**=दृश्य व ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में इन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया तो यजुर्वेद में वायु इनके ज्ञान का विषय बना और अब साम में वे सूर्य को

ज्ञान का विषय बनाते हैं। **'अग्नेर्वा ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः'**। **तेन अयजन्त**=सूर्य के साथ ये विद्वान् अपना सङ्ग बढ़ाते हैं। इसकी किरणों से अपने यन्त्रादि को परिचालित करने का प्रयत्न करते हैं। **सः**=इस सूर्य का ज्ञान प्राप्त करके वह **एतं लोकम्**=इस सूर्य के आधारभूत द्युलोक को **अजयत्**=जीत लेता है। **यस्मिन् सूर्यः**=जिस द्युलोक में यह सूर्य है **सः**=वह **ते लोकः**=तेरा लोक **भविष्यति**=हो जाएगा। **तं जेष्यसि**=उस लोक को तू जीत लेगा। उसके ज्ञान से तू द्युलोक को अपने अनुकूल कर पाएगा, इसके लिए **एता अपः पिब**=इन रेतःकणों को तू अपने अन्दर पीने का प्रयत्न कर।

भावार्थ—देववृत्तिवाले लोग 'अग्नि-वायु-सूर्य' आदि देवों (प्राकृतिक शक्तियों) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनके ज्ञान को अपने यन्त्रादि में विनियुक्त करते हैं। अपने हितसाधनों में इन्हें विनियुक्त करते हुए वे इनपर विजय प्राप्त करते हैं। ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ देवों के लिए हितकर हो जाती हैं।

नोट—मातृवत् हित करने से ही ये अगले मन्त्र में 'अम्बे, अम्बिके व अम्बालिके' इस रूप में सम्बोधित हुई हैं। ऋग्वेद अम्बा है, यजुर्वेद अम्बिका तथा साम अम्बालिका।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्राणादयः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अम्बा-अम्बिका-अम्बालिका

प्राणाय॒ स्वाहाऽपा॒नाय॒ स्वाहा॑ व्या॒नाय॒ स्वाहा॑। अम्बे॒ऽअम्बि॒केऽम्बा॑लिके॒ न मा॑ नयति॒ कश्च॒न। ससस्त्यश्व॒कः सु॒भद्रि॑कां काम्पीलवा॒सिनी॑म्॥१८॥

१. गतमन्त्र की ज्ञानवाणियों का ध्यान करते हुए कहते हैं कि **प्राणाय**=प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए अग्नि का वर्णन करनेवाली, ऋग्वाणी जो **अम्बा**=माता के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=(सुआह) उत्तमता से कही गई है। २. **अपानाय**=अपान—दोषों के दूरीकरण की शक्ति की वृद्धि के लिए यह वायु का वर्णन करनेवाली यजुर्वाणी जो **अम्बिका**=दादी (पितामही—द०) के समान हितकर है, यह **स्वाहा**=उत्तमता से कही गई है। ३. **व्यानाय स्वाहा**=(व्यानः सर्वशरीरगः) व्यान के लिए, सारे शरीर को नियन्त्रण में रखने के लिए प्रतिपादित की गई यह सामवाणी सूर्य का वर्णन करती हुई **अम्बालिका**=प्रपितामही के समान हितकर है और इसका उत्तमता से प्रतिपादन हुआ है। ४. हे **अम्बे**=मातृवत् हितकारिणी अग्निविद्या, **अम्बिके**=पितामहीवत् हितकारिणी वायुविद्या तथा **अम्बालिके**=प्रपितामहीवत् हितकारिणी सूर्यविद्ये! ('अबि शब्दे' से ये तीनों शब्द बने हैं, अतः यहाँ शब्दप्रतिपाद्य विद्या के वाचक हैं) आपकी कृपा से **मा**=मुझे **कश्चन**=संसार का कोई भी विषय या प्रलोभन **न नयति**=धर्म के मार्ग से दूर नहीं ले-जाता Not to be led away) ५. ज्ञान प्राप्त करके सदा उत्तम क्रियाओं में व्याप्त रहनेवाला (अश् व्याप्तौ) **अश्वकः**=(अश्वः एव अश्वकः स्वार्थे कन्) क्रियाशील शक्तिशाली पुरुष **सुभद्रिकाम्**=उत्तम कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाली **काम्पीलवासिनीम्**=(कं सुखं पीलयति गृह्णाति, तं वा संयाति तां लक्ष्मीम्—द०) सुख-संग्रहण में निवास करनेवाली लक्ष्मी को **ससस्ति**=प्राप्त करके आराम से शयन करता है। 'लक्ष्मीमधिशेते'=लक्ष्मी को प्राप्त करता है, इसी प्रकार **लक्ष्मीं ससस्ति**=कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राण, अपान व व्यान की प्रतिपादिका ज्ञानवाणियों का ग्रहण करें। इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करने पर हमें संसार का कोई प्रलोभन हरा नहीं सकता। ज्ञानानुसार कर्मों में व्याप्त होनेवाला पुरुष कल्याणकारिणी लक्ष्मी को प्राप्त करके आराम से रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**गणपतिः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

गणपति-प्रियपति-निधिपति

गणानां त्वा गणपतिꣳहवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳहवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥१९॥

१. गतमन्त्र की **अम्बा**=मातृवत् हितकारिणी ऋग्वाणी से **गाणानां गणपतिम्**=ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, कर्मेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक आदि अथवा आठ वसु, ग्यारह रुद्र व बारह आदित्यों के गणों के गणपति=रक्षक **त्वा**=तुझे **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना से हम चाहते हैं कि ये सब गण ठीक बने रहकर हमारे स्वास्थ्य को ठीक रखनेवाले हों। २. गतमन्त्र की **अम्बिका**=पितामहीवत् हितकारिणी यजुर्वाणी से हम **प्रियाणां प्रियपतिम्**=प्रियों के भी प्रियपति **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रियपति आपकी आराधना से हम यज्ञादि प्रिय कर्मों को करते हुए सभी के प्रिय हों। हमारे मनों में ईर्ष्या-द्वेष न हो। ३. गतमन्त्र की अम्बालिका=प्रपितामहीवत् हितकारिणी ज्ञानवाणी से हम **निधीनां निधिपतिम्**=निधियों के निधिपति सर्वोच्च ज्ञानकोश के रक्षक (यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदम्=अथर्व०) **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। निधिपति आपकी आराधना से हम भी ज्ञान के निधि बनने के लिए यत्नशील होते हैं और इस प्रकार मस्तिष्क के कोश को ज्ञाननिधि से भरनेवाले बनते हैं। ४. हे प्रभो! आप तो वस्तुतः **मम वसो**=मेरे बसानेवाले हो, मेरा उत्तम निवास आपपर ही निर्भर करता है। अतः ५. **गर्भधम्**=सब ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करनेवाले आपको **अहम्**=मैं **आ अजानि**=सर्वथा जाननेवाला बनूँ (अज=गति=ज्ञान) आपको जानूँ, आपकी ओर चलूँ और आपको प्राप्त करूँ। ६. **त्वम्**=तूही **गर्भधम्**=इस जगत् को गर्भ में धारण करनेवाली प्रकृति को **अजासि**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति देते हो। आप ही प्रथम गति देनेवाले Prime mover हो। आप ही सारे संसार के सञ्चालक हो।

भावार्थ—गणपति प्रभु का उपासक मैं ज्ञानेन्द्रिय आदि गणों का पति होऊँ। प्रियपति प्रभु का उपासक मैं सबका प्रिय बनूँ। निधिपति का उपासक ज्ञाननिधि का पति बनूँ। आपको मैं अपना निवासक जानूँ। सारे संसार को गर्भ में धारण करनेवाले आपकी ओर चलूँ। आप ही ब्रह्माण्डजननी प्रकृति को गति देते हो, मुझे भी उत्तम गति प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**स्वाराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

चार पुरुषार्थ

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोक प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु॥२०॥

१. गतमन्त्र के 'गणपति, प्रियपति व निधिपति' का उपासक प्रभु से कहता है कि **ता उभौ**=वे दोनों आप और मैं (राजा व प्रजा) **चतुरः पदः**=चार पगों को **संप्रसारयाव**=फैलाएँ, अर्थात् चारों प्राप्तव्य पुरुषार्थों को, धर्मार्थ, काम-मोक्ष को विस्तृत करनेवाले बनें। २. आपकी कृपा से धर्मार्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करनेवाले बनें और **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में, सुखमयलोक में **प्रोर्णुवाथाम्**=अपने को आच्छादित करें, अर्थात् सुखमयलोक में निवास करनेवाले बनें। आप तो सुखस्वरूप हैं ही, मैं भी आपकी कृपा से सुखमयलोक में रहने-वाला बनूँ। ३. आप **वृषा**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **वाजी**=शक्तिशाली व **रेतोधा**=वीर्यशक्ति का धारण करनेवाले हैं। हे प्रभो! आप कृपा करके **रेतः दधातु**=राजा व प्रजा

में शक्ति धारण कीजिए।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर मैं, प्रभुकृपा से 'धर्मार्थकाम-मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करूँ। अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करूँ। 'वृषा, वाजी, रेतोधा' प्रभु राजा व प्रजा में रेतस् का आधान करें, अर्थात् प्रभु राजा व प्रजा को शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**न्यायाधीशः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

व्यभिचार-दण्ड

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। य स्त्रीणां जीवभोजनः॥२१॥

१. गतमन्त्र में 'वृषा, वाजी व रेतोधा' का उल्लेख था। राष्ट्र में प्रजाओं में सदाचार फैलाना, सदाचार के वातावरण को उत्पन्न करना यह राजा का मुख्य कार्य होना चाहिए तभी प्रजाएँ शक्तिसम्पन्न बन पाएँगी। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् तथा प्रजाओं पर सुखों की वृष्टि करनेवाले राजन्! आप **यः स्त्रीणां जीवभोजनः**=जो स्त्रियों पर आजीविका चलानेवाला पुरुष है उस **गुदम्**=(गुद् क्रीडायाम्) विलासमय क्रीडावाले भोगासक्त पुरुष को **उत्सक्थ्याः**=(उद्गते सक्थिनी यस्य) ऊपर जांघोंवाला **अवधेहि**=नीचे सिरवाला करके स्थापित कर, अर्थात् इसे उलटा लटका दे। विलास व व्यभिचार को फैलानेवाले को उलटा लटका देना चाहिए। इस प्रकार का कठोर दण्ड 'व्यभिचार' आदि को रोकने के लिए आवश्यक है। २. राजा को यह भी चाहिए कि **अञ्जिं संचारय**=ज्ञान के प्रकाश को फैलाये (अंजि=Brilliance)। अपराधों को दूर करने के लिए जहाँ अपराधियों को ऐसा दण्ड देना जो प्रत्यादेश के लिए हो, अर्थात् प्रजाओं में अपराधों को रोकनेवाला हो, वहाँ ज्ञान के प्रकाश को भी फैलाना चाहिए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति ही परिवर्तित हो जाए। व्यभिचार से होनेवाली हानियों के जानने पर तथा संयमी जीवन के लाभों के स्पष्ट होने पर लोग इन बुराइयों से सम्भवतः दूर हटेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में व्यभिचार को रोकने के लिए विलासी पुरुष को उलटा लटकवा दे तथा राष्ट्र में व्यभिचार की हानियों व संयम के लाभों के ज्ञान का प्रचार करवाए, जिससे लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन किया जा सके।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

कृषि

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥२२॥

१. **यका असकौ**=(या असौ) वह जो, पिछले मन्त्र के अनुसार व्यभिचार-विवर्जित संयमी जीवनवाली प्रजा **शकुन्तिका**=शक्तिशाली बनकर **आहलक्**=(आ हलेन आचरति) चारों ओर हल के साथ चलनेवाली होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=अकाल इत्यादि को राष्ट्र से दूर कर देती है। प्रजा में विलासिता आदि दोष न होने पर उसकी शक्ति बढ़ती है। कृषि आदि उत्तम कार्यों में लगकर प्रजा दुष्काल आदि आपत्तियों से राष्ट्र को बचाती है। २. इस **गभे**=(बड् वै गभः श० १३।२।९।६) ऐश्वर्यशालिनी (गभ=भग) प्रजा में राजा **पसो**=(पस=सम=समवाय, राष्ट्रं पसः—श० १३।२।९।६।) राष्ट्रीय भावना को—समवाय व मेल की भावना को **आहन्ति**, सब प्रकार से प्राप्त कराता है। (हन्=गति) इस राष्ट्रीय भावना व मेल की भावना को जगाकर वह प्रजा में आचरण के मापक को ऊँचा करने

का प्रयत्न करता है। राष्ट्र के उत्थान की भावना के प्रबल होने पर प्रजा कोई भी ऐसा कार्य नहीं करती जो राष्ट्र की अवनति का कारण बने। ३. राष्ट्रीय भावना के जागरण के लिए किये जानेवाले सब प्रचार को **धारका**=ऐश्वर्य का धारण करनेवाली प्रजा **निगल्गलीति** =खूब ही प्रेम से सुनती है। (गल् श्रवणे) अपने अन्दर निगल-सा लेती है, अर्थात् बड़े ध्यान से सुनकर उस ज्ञान को धारण करती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण प्रजा कृषि में प्रवृत्त होकर राष्ट्र को दुष्काल आदि से बचाती है। जहाँ इस कार्य से (क) शक्तिशाली बनती है, (शकुन्तिका), (ख) ऐश्वर्य को बढ़ाती है (गभ=भग), (ग) वहाँ प्रसंगवश बुराइयों से बची रहती है। राजा इसी उद्देश्य से प्रजा में राष्ट्रीय भावना को जागरित करता है। प्रजा भी राजा से प्रचारित किये जानेवाले ज्ञान को ध्यान से सुनती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

शकुन्तक (शक्तिसम्पन्न)

यकोऽसकौ शकुन्तकऽआहलगिति वञ्चति।
विवक्षतऽइव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभि भाषथाः ॥२३॥

१. गतमन्त्र में प्रजा के कृषिप्रधान बनने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में एक-एक व्यक्ति के कृषि को स्वीकार करने का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **यकः असकौ**=(यः असौ) जो वह **शकुन्तकः**=शक्तिशाली होकर **आहलक्**=(आ हलेन अञ्चति) चारों ओर हल के साथ गति करनेवाला होकर **इति**=इस प्रकार **वञ्चति**=दुष्काल को राष्ट्र से दूर करता है। २. हे **अध्वर्यो**=राष्ट्रयज्ञ के सञ्चालक राजन्! **ते मुखम्**=तेरा चेहरा **विवक्षतः इव**=उस पुरुष के चेहरे के समान है जो विशिष्ट भार को उठाने की कामनावाला है। तेरे चेहरे से ही यह बात स्पष्ट है कि तू विशिष्ट राज्यभार को उठाये हुए है। ३. हमारा भी प्रयत्न ऐसा होगा कि **त्वं नः मा अभि भाषथाः**=आप हमें कुछ मत कहें। हमारा आचरण ही इतना सुन्दर हो कि आपको कुछ कहना ही न पड़े। वस्तुतः प्रजावर्ग का राजा के लिए सर्वोत्तम सहयोग यही है कि वह राजा को कुछ कहने का अवसर ही न दे।

भावार्थ—सब पुरुषों का जीवन कृषि-प्रधान हो। वे अपने आचरण को ऐसा उत्तम रक्खें कि राजा को उन्हें कुछ कहना ही न पड़े, तभी राजा राज्य के विशिष्ट कार्यभार को ठीक से उठा पाएगा।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

स्तेय-दण्ड (चोरी का नाश)

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयत्॥२४॥

१. राष्ट्र में प्रजा माता है जो राष्ट्र का निर्माण करती है और राजा पिता है जिसका काम राष्ट्र की रक्षा करना है। ये दोनों मिलकर ही राष्ट्र की उन्नति का साधन कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे राष्ट्र! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरी रक्षा करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रम्**=राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग पर, अर्थात् राष्ट्रोन्नति के शिखर पर **रोहतः**=आरोहण करते हैं। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य अग्रम्—श० १३।२।९।७) 'श्री' ही राष्ट्रवृक्ष का शिखर है, अतः ये राष्ट्र को अत्यन्त श्रीसम्पन्न करते हैं। २. और हे

राष्ट्र! **प्रतिलाम इति**=(तिल स्नेहने) प्रकर्षेण स्नेह करता हूँ, इस भावना से ही **ते पिता**=तेरा रक्षक यह राजा **गभे**=(विड् वै गभः) ऐश्वर्यसम्पन्न प्रजाओं के अन्दर **मुष्टिम्**=(मोषणात् नि० ६।१।१) चोरी की वृत्ति को **अतंसयत्**=कम्पित कर दूर करवा (Shakes away) देता है। मनु के अनुसार राजा चोर को हस्तच्छेदादि दण्ड देता है (**तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः**—मनु) ऐसे दण्ड से प्रजा चोरी आदि पापों की ओर झुकाववाली नहीं रहती। वस्तुतः जब राजा को राष्ट्र के प्रति स्नेह होता है तब वह राष्ट्र में से चोरी आदि को दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—राष्ट्र की माता 'प्रजा' है तो पिता 'राजा' है। ये दोनों मिलकर राष्ट्रवृक्ष की श्री का वर्धन करते हैं। राजा राष्ट्र में से चोरी को कम्पित कर दूर भगा देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**भूमिसूर्यौ**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

संयत-वाणी

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु॥२५॥

१. हे राष्ट्रवृक्ष! **ते माता च**=तेरा निर्माण करनेवाली यह प्रजा, **पिता च ते**=और तेरा रक्षण करनेवाला यह राजा **वृक्षस्य अग्रे**=इस राष्ट्रवृक्ष के अग्रभाग में **क्रीडतः**=एक क्रीडक की भावना से युक्त होकर सारे कर्त्तव्यों को करते हैं, अर्थात् इस राजकार्य में इनको जीत-हार की कोई वासना (complex) व्यथत नहीं करती। राजा केवल रौब के लिए कोई काम नहीं करता। २. **ब्रह्मन्**=हे राष्ट्र का वर्धन करनेवाले राजन्! **ते मुखम्**=तेरा मुख **विवक्षतः इव**=राज्य के विशिष्ट भार को उठानेवाले पुरुष के मुख की भाँति है। तेरे चेहरे से लगता है कि तूने महान् उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लिया हुआ है, परन्तु **त्वम्**=तू **बहु मा वदः**=बहुत बोल नहीं, चूँकि बहुत बोलनेवाला अपनी शक्ति को क्षीण कर लेता है और भार को उठा नहीं पाता।

भावार्थ—राजा और प्रजा राष्ट्र कार्यों को एक क्रीड़क की वृत्ति से निभाते हैं। राजा विशिष्ट राज्यभार को अपने कन्धे पर लेता है और बड़ी संयत वाणीवाला होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

राज-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताꣳशीते वाते पुनन्निव॥२६॥

१. गतमन्त्रों में राजा व प्रजा को राष्ट्र के माता-पिता के रूप में चित्रित किया है। प्रस्तुत मन्त्र में राजा के लिए कहते हैं कि हे राजन्! **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार को ले-जानेवाले की भाँति तू **एनाम्**=इस प्रजा को **ऊर्ध्वाम्**=ऊपर, उन्नत स्थिति में, **उच्छ्रापय**=उठाकर उन्नत कर। 'पर्वत पर भार ले-जानेवाले की भाँति' उच्छ्रित कर इस उपमा में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। (क) एक तो यह कि पर्वत पर चढ़ना ही कठिन है और भार लेकर ऊपर जाना तो बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करना, अर्थात् राजकर्त्तव्य को निभाना कोई सुगम कार्य नहीं है, (ख) दूसरा यह कि भार को ऊपर ले-जानेवाला स्वयं तो ऊपर पहुँचता ही है, इसी प्रकार प्रजा को उन्नत करनेवाला राजा भी नैतिक दृष्टिकोण से उन्नत होता है। २. हे राजन्! इस प्रजा की उन्नति का, शिक्षित करने का परिणाम यह हो कि **अथ**=अब **अस्यै**=इस प्रजा के लिए **मध्यम्**=(श्रीर्वै राष्ट्रस्य

मध्यम्–श० ३।३।१।४) श्री=धनसम्पत्ति **एधताम्**=बढ़े। किसी भी राष्ट्र में प्रजा की स्थिति का अच्छा होना मूलरूप से उसकी श्री के विकास से ही आँका जाता है। ३. तू इस प्रजा को **शीते**=(श्यैङ् वृद्धौ) बढ़ी हुई **वाते**=वायु में **पुनन् इव**=भूसे से गेहूँ को पृथक् करते हुए की भाँति हो। जैसे बढ़ी हुई वायु में कोई भी अन्न को गाहनेवाला छाज से फटकता है और भूसे को गेहूँ से पृथक् कर देता है। उसी प्रकार तू प्रजाओं से आर्य और दस्युओं को पृथक्-पृथक् करनेवाला हो। राजा ने यह दस्यु व आर्यों का अलग-अलग जानने की क्रिया 'शीते वाते'=शान्त गति के द्वारा करनी है। प्रजा में अन्याय व अनुचित दण्ड के भय की उद्विग्नता न छा जाए।

भावार्थ–राजा के तीन मौलिक कर्त्तव्य हैं (क) प्रजा की स्थिति को उन्नत करना, उसमें शिक्षा आदि का प्रसार करना, (ख) इसके श्री का विकास करना व (ग) आर्य और दस्युओं को अलग-अलग जानना।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**श्रीः**। छन्दः–**अनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

प्रजा-कर्त्तव्य-त्रयी

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳहरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव॥२७॥

१. पिछले मन्त्र में प्रजा के प्रति राजकर्त्तव्य का उल्लेख किया है। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं शब्दों में राजा के प्रति प्रजा के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हैं। **गिरौ भारं हरन् इव**=पर्वत पर भार ले-जानेवाले पुरुष की भाँति **एनम्**=इस राजा को **ऊर्ध्वम् उच्छ्रयतात्**=तू उन्नत कर, उन्नत स्थिति में स्थापित कर। जब प्रजा राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करती है तब राजा को प्रभु का प्रतीक मानती हुई उसकी आज्ञा का पालन करती है। प्रजा राजनियमों की अवहेलना तक नहीं करती। २. प्रजा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह 'कर-नियमों' का पालन करती हुई ऐसा प्रयत्न करे कि **अथ**=अब **अस्य**=इस राजा की **मध्यम्**=श्री **एजतु**=(सत्कर्मसु चेष्टताम्–द०) राष्ट्रोन्नति के उत्तम कार्यों में विनियुक्त हो। राजा ने श्री का विनियोग अपने विलास व सजधज में थोड़े ही करना है? उसने तो इस कोश को अपने लिए 'बन्ध्या गौ' के समान समझते हुए प्रजा के लिए ही इसे कामधेनु बनाना है। ३. प्रजा भी **शीते वाते पुनन् इव**=बढ़ी हुई वायु में तुष व अन्न को अलग करते हुए पुरुष की भाँति शान्त क्रियाशीलता में अपने जीवनों को पवित्र करनेवाली बने। शान्तिपूर्वक क्रिया में लगे हुए लोग व्यर्थ के उपद्रव की बातों को सोचते ही नहीं।

भावार्थ–प्रजा के तीन कर्त्तव्य ये हैं–१. वह राजा को उन्नत स्थिति में स्थापित करे। उसकी आज्ञा का पालन करे। २. कर देकर राजा की श्री का वर्धन करे, जिससे राजा उस श्री के द्वारा उत्तम कार्यों को करता हुआ राष्ट्र को सुन्दर बना पाए। ३. शान्त क्रियाशीलता के द्वारा प्रजा अपने जीवन से अशुभ भावनाओं को ऐसे दूर करे जैसे अन्न से भूसे को अलग कर देते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**प्रजापतिः**। छन्दः–**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

न मे स्तेनो जनपदे

यदस्याऽअꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्याऽएजतो गोशफे शकुलाविव॥२८॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार राष्ट्र व्यवस्था के उत्तम होने पर **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा का, अर्थात् पाप को अपने से दूर करनेवाली इस प्रजा का **कृधु**=(ह्रस्वः—नि० ३।२) थोड़ा-सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है (तस्=Throw down) छोटी व बड़ी चोरी करता है, चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **इत्**=निश्चय से **मुष्कौ**=ये शोषण करनेवाले चोर राजदण्ड भय से **एजतः**=इस प्रकार काँपते हैं कि **इव**=जैसे **गोशफे**=गोखुरप्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती हैं। २. राजदण्ड के जागरूक होने पर न चोरियाँ होती हैं न डाके पड़ते हैं। प्रजा तभी शान्ति से सो पाती है जब राजदण्ड जागरित रहकर पहरा देता है। ३. यहाँ प्रजा का विशेषण 'अंहुभेद्याः' बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रजा में पाप की वृत्ति न हो—लोग अन्याय से धन न कमाएँ तो चोरियाँ अपने आप ही कम हो जाती हैं। जब कमाने में अन्याय आ जाता है तब चोरियाँ भी बढ़ने लगती हैं। अन्याय से कमाने की वृत्ति के बढ़ जाने पर ही चोरों की उत्पत्ति होती है। प्रजा में से ही ये चोर उत्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में दण्ड-व्यवस्था को इस प्रकार सुव्यवस्थित रक्खे कि चोर व डाकू दण्ड-भय से कम्पित होकर इस मार्ग को ही छोड़ दें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

नारी=नरहितकारिणी सभा

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥२९॥

१. राजा के राजकार्य में सहायकरूप से जो दशावरा व त्र्यवरा परिषद् बनती हैं उनका मुख्य उद्देश्य 'प्रजा का हित करना' है, अतः नर-हितकारिणी यह सभा यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में 'नारी' शब्द से कही गई है। इस सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम=सुन्दर, गो=वाणी) तथा **विष्टीमिन्**=विशेषरूप से प्रजा के लिए करुणार्द्रभाववाले (स्नीम्=आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=विद्वान् लोग, व्यवहारकुशल विद्वान् **प्र अमाविषुः**=प्रकर्षेण व्याप्त कर लेते हैं तब वे **यथा**=जैसे **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं, उसी प्रकार अर्थात् उसी अनुपात में **नारी**=वह नरहितकारिणी सभा **सक्थ्ना**=(षच सवने सचने च, षच् समवाये) सेवन की वृत्ति से, प्रजा पर सुख का सेचन करने से तथा अपने अन्दर समवाय व मेल से **देदिश्यते**=(Point out) संकेतित होती है, अर्थात् उस सभा के ये तीन मुख्य गुण हैं, (क) वह प्रजा की सेवा करनेवाली होती है, (ख) प्रजा पर सुखों का सेचन करती है और (ग) उस सभा के सभ्यों में परस्पर मेल होता है, वहाँ पक्ष, प्रति-पक्ष की फूट प्रबल नहीं हो पाती। २. मन्त्रार्थ से स्पष्ट है—राजा सभा में कभी कटु वाणी नहीं बोलता, वह 'ललामगु' होता है। अथर्व० ७।१२।१। में राजा कहता है कि **'चारु वदानि पितरः संगतेषु'**=हे सभासदो! मैं सभा के सभ्यों के एकत्र होने पर सदा सुन्दर शब्द ही बोलूँ। ३. अथर्व ७।१२।२ में इस सभा को नरिष्टा=मनुष्यों के लिए इष्ट को सिद्ध करनेवाली' शब्द से स्मरण किया गया है। यही भाव यहाँ 'नारी' शब्द से कहा गया है **'विद्म सभे ते नाम नरिष्टा नाम वा असि'**। ४. सभा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वहाँ पार्टीबाज़ी व वैमनस्य नहीं। **'ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः'** (अ० ७।१२।२) सब सभासद् ऐकमत्यवाले हों। जितना-जितना सभासद सत्य की ओर

झुकाववाले होंगे, सत्य की ही आँख से देखनेवाले होंगे उतना-उतना वे परस्पर समीप होंगे। ५. 'प्र अमाविषुः'=व्याप्त करते हैं। यह शब्द स्पष्ट कह रहा है कि राजा विद्वानों से ही घिरा होगा तो सभा प्रजा का कल्याण करनेवाली होगी, खुशामदियों से घिरा होगा तो वह राजा प्रजा का क्या कल्याण कर पाएगा?

भावार्थ—जब राजा को विद्वान् लोग व्याप्त करते हैं तभी राजसभा प्रजा की सेवा कर पाती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

हरिण का यवभक्षण

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते। शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति॥३०॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=राष्ट्र, अर्थात् राष्ट्र का अधिकारी राजा **यवम्**=प्रजा को (विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः—श० १३।२।९।८) **अत्ति**=खाने लगता है तब वह **पुष्टम्**=पोषणवाली को, राष्ट्र की उन्नति को **पशु**=(पशुम्=प्रजा वै पशवः—श०१।४।६।१७) प्रजा को **न मन्यते**=आदर नहीं देता। वे पुष्ट प्रजाएँ ही वस्तुतः राष्ट्र की उन्नति का भी मूल है, ऐसा वह नहीं समझता। ऐसा न समझकर वह भारी करों द्वारा व अन्य उपायों द्वारा उनकी सम्पत्ति को हड़पने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने ही मूल को समाप्त कर लेता है। ऐसा राजा अपने भोग-विलास को ही महत्त्व देता है, प्रजा के पोषण को नहीं। २. एक **शूद्रा**=दासी **यत्**=जब **अर्यजारा**=स्वामी की 'जारा' बनकर उसकी शक्तियों को जीर्ण करनेवाली होती है तब वह **पोषाय**=वंश-पोषण के लिए **न धनायति**=सन्तान-धन की इच्छा नहीं करती। वहाँ भोगवासना का प्राधान्य होता है, वंशवृद्धि की भावना का वहाँ अभाव होता है। इसी प्रकार जिस राजा में विलास की वृत्ति आ जाती है, वह प्रजोन्नतिरूप धन की कामना से शून्य हो जाता है।

भावार्थ—जैसे एक दासी अपने स्वामी का उपभोग करती हुई वंशवृद्धि की कामनावाली नहीं होती, उसी प्रकार एक विलासी वृत्तिवाला राजा प्रजा को अत्यधिक कर आदि द्वारा खाता हुआ प्रजा-पोषण को महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजप्रजे**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पोषण की भावना का अभाव

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते।
शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु मन्यते॥३१॥

१. **यत्**=जब **हरिणः**=जिसने प्रजा के दुःखों का हरण करना था, वह राजा ही **यवम्**=प्रजा को (अपने से दोषों को दूर करनेवाली व गुणों से अपना मेल करनेवाली प्रजा को) **अत्ति**=खाता है, वह **पुष्टम्** =प्रजा के पोषण को **न बहु मन्यते**=बहुत महत्त्व नहीं देता। विलास की वृत्ति राजा को अन्धा बना देती है और वह विलास में फँसा हुआ प्रजा का तो नाश करता ही है, अपना भी नाश कर बैठता है। २. **शूद्रः**=एक शूद्र जब **अर्यायै जारः**=किसी वैश्य स्त्री का प्रेमी बन जाता है तब **पोषम्**=वंशवर्धन की न **अनुमन्यते**=कभी स्वीकृति नहीं देता, अर्थात् उसके उस प्रेम में केवल विलासिता-ही-विलासिता होती है, वहाँ कोई उच्च भावना काम नहीं कर रही होती। इस प्रकार एक विलासवृत्ति का राजा प्रजा-पोषण का नाममात्र भी ध्यान नहीं देता।

भावार्थ—राजा विलासी हो जाए तो वह उस शूद्र व्यक्ति के समान होता है जो एक स्वामिनी का प्रेमी बनकर वंशवृद्धि के विचार को कोई महत्त्व नहीं देता।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'दधिक्रावा' का स्तवन

दधिक्राव्णोऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र णऽआयूꣳषि तारिषत्॥३२॥

१. 'हमारे जीवन विलासमय न हो जाएँ' इसके लिए आवश्यक है कि हम सदा प्रभु का उपासन करें, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के उपासन का वर्णन करते हुए कहते हैं—मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ (विष्णोः करोमि=विष्णु का स्तवन करता हूँ) जो (क) **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) धारणात्मक कर्म करते हुए गति करता है। उस प्रभु का प्रजाकर्म धारणात्मक है। (ख) **जिष्णोः**=जो प्रभु विजयशील हैं। वस्तुतः हम जो भी विजय प्राप्त करते हैं उस विजय को वे प्रभु ही हमें प्राप्त करा रहे होते हैं। प्रभु कभी पराजित नहीं होते। (ग) **अश्वस्य**=(अश्व व्याप्तौ) वे प्रभु व्यापक हैं। हमें भी उस प्रभु का अनुकरण करते हुए व्यापक व उदार बनना है। (घ) **वाजिनः**=उस प्रभु का जो (वज् गतौ) क्रियाशील व शक्तिशाली हैं (वाज=शक्ति)। २. इस प्रकार प्रभु का स्तवन करते हुए हमें भी 'दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' बनने का प्रयत्न करना चाहिए। ३. इस प्रकार बननेवाला पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि वे प्रभु **नः मुखा**=हमारे मुखों को **सुरभि करत्**=सुगान्धित करे। हमारे मुख से कोई कड़वा शब्द न निकले तथा **नः आयूँषि**=हमारे जीवनों को **प्रतारिषत्**=दीर्घ कर दे। जब हमारे मुखों से कोई अशुभ शब्द नहीं निकलता तब हमें अवश्य दीर्घजीवन प्राप्त होता है। कड़वे शब्द हमारे आयुष्य को भी काटनेवाले होते हैं।

भावार्थ—दधिक्राव्ण-जिष्णु-अश्व व वाजी' पुरुष के मुख से कोई अपशब्द उच्चारित नहीं होता और इसे दीर्घजीवन प्राप्त होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

छन्दों के नामों का उपदेश

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३३॥

१. **गायत्री**=छन्द 'गयः प्राणास्तान् तत्रे'='प्राणशक्ति की रक्षा करना' इस **सूचीभिः**=सूचना से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करें। गायत्री छन्द का तुझे यही उपदेश है कि तू प्राणशक्ति की रक्षा करनेवाला बनना। प्राणशक्ति की रक्षा से स्वस्थ बनकर तू शान्ति को प्राप्त करनेवाला होगा। २. **त्रिष्टुप्**=छन्द 'त्रि+स्तुप्'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की सूचना देता है। 'त्रिष्टुप्' छन्द का उपदेश यही है कि तूने काम-क्रोध-लोभ इन तीनों को रोकना है। ये ही नरक के द्वार हैं। इनको बन्द करके तू स्वर्ग की शान्ति का अनुभव कर पाएगा। ३. **जगती**=छन्द 'निरन्तर गति' का उपदेश देता हुआ तेरे जीवन को शान्त बनाए। स्वस्थ बनकर, काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठकर तूने निरन्तर क्रिया में लगे रहना है। ४. **अनुष्टुप्** (अनुस्तौति)=छन्द यह सूचना देता है कि तू गति करता हुआ, क्रिया करता हुआ प्रभु का स्तवन अवश्य कर। प्रभुस्मरण के साथ की गई क्रियाएँ तेरे जीवन की शान्ति का कारण

बनेंगी। प्रभु को न भूलकर किये जानेवाले कर्म पवित्र होते हैं। पवित्रता सदा शान्ति देती है। ५. **पङ्क्त्या सह**=पंक्ति छन्द के साथ अनुष्टुप् तुझे प्रभुस्मरण की सूचना द्वारा शान्ति प्रदान करे। पंक्ति छन्द की सूचना यह है कि तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखनेवाला बन, पाँचों कर्मेन्द्रियों को तू सशक्त बना, तेरे पाँचों प्राण अपना-अपना कार्य ठीक से करें। इस पंक्ति छन्द की सूचना को कार्यान्वित करके तू सचमुच 'पञ्चजन'=पाँचों का विकास करनेवाला व दूसरे अर्थों में सच्चा मनुष्य बनेगा। ६. **बृहती**=छन्द की सूचना यह है कि तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी दृष्टिकोणों से सदा वर्धमान हो। 'वृद्धि' तेरे जीवन का सूत्र हो। इस सूत्र को स्मरण करने से तू उन्नति की ओर ही बढ़ेगा और वास्तविक शान्ति को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो रहा होगा। ७. **उष्णिहा**=(उत् स्निह्यति) छन्द की सूचना यह है कि तूने उत्कृष्ट स्नेह करनेवाला बनना है। प्रकृति की ओर न झुककर प्रभु की ओर उन्मुख होना है। यही तेरी उन्नति का साधन होगा। ८. **ककुप्**=छन्द 'शिखर' का वाचक है। इसकी सूचना यही है कि उन्नत होते-होते तूने शिखर तक पहुँचना है। शिखर तक पहुँचे बिना विराम नहीं लेना। ९. इस प्रकार ये छन्द 'गायत्री' से प्रारम्भ होकर 'ककुप्' पर समाप्त होते हुए यही कह रहे हैं कि (क) तू अपनी प्राणशक्ति की रक्षा कर। (ख) प्राणशक्ति की रक्षा के लिए ही 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकनेवाला बन। (ग) इनको रोकने के लिए क्रिया में लगा रह। (घ) क्रिया को करते हुए प्रभु को न भूल। (ङ) इस प्रकार तू अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को सबल बना पाएगा। (च) तू सदा अपना वर्धन करनेवाला बन। (छ) इस वर्धन के लिए तू उत्कृष्ट स्नेहवाला हो और (ज) शिखर तक पहुँचनेवाला बन। सब छन्दों की सूचनाएँ तेरे जीवन को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—छन्दों के नाम उच्च भावनाओं की सूचना देते हुए हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

छन्दों के विविध स्वरूपों के उपदेश

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥३४॥

१. **द्विपदाः**=जो छन्द की जातियाँ दो चरणोंवाली हैं **याः**=जो **चतुष्पदाः**=चार चरणोंवाली हैं **त्रिपदाः** =जो तीन चरणोंवाली हैं **याः च**=और जो **षट्पदाः**=छह चरणोंवाली हैं, **विच्छन्दाः**=जो छन्दोंरहित विषमाक्षर गद्यरूप हैं **याः च**=और जो **सच्छन्दाः**=छन्दोंयुक्त हैं, वे सब **सूचीभिः**=विविध उपदेशों की सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. द्विपद छन्दों की सूचना है कि तू 'ज्ञान व कर्म' इन दोनों को अपनानेवाला हो। ये एक पक्षी के दो पंखों की भाँति हैं। जैसे पक्षी किसी एक पंख से आकाश में उड़ नहीं सकता, इसी प्रकार तू अकेले ज्ञान वा अकेले कर्म से उड़ न सकेगा। ३. चतुष्पदा छन्द कह रहे हैं कि 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' ये चारों ही तेरी **पद**=प्राप्य वस्तु हैं। धर्म व मोक्ष को भूलकर तू अर्थ व काम में ही न फँस जाना। ४. त्रिपदा छन्द कहते हैं कि तूने तीन कदम रखने हैं तभी तू त्रिविक्रम बनेगा। तू 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बना। 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों पर आक्रमण करनेवाला बन। 'सत्य, यश, श्री' तीनों को धारण कर। त्रिमात्रा ओंकार का ध्यान करके त्रिलोकी का विजय करनेवाला हो। ५. षट्पदा छन्द 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य' इन छह-के-छह शत्रुओं पर आक्रमण की सूचना दे रहे हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व छठे मन को काबू करने का ये उपदेश देते हैं। ६. 'विछन्द' यदि

छन्दरहित-इच्छा रहित होने का उपदेश देते हैं तो 'सच्छन्द' कह रहे हैं कि तुममें वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग करने की इच्छा तो होनी ही चाहिए।

भावार्थ—मन्त्र के विविध छन्दों की स्वरूप-सूचनाएँ हमें शान्ति देनेवाली बनें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

विविध वाणियों के उपदेश

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ ३५॥

१. **महानाम्न्यः**=महानाम्नी नामवाली **वाचः**=ऋग्वाणियाँ **सूचीभिः**=अपने सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। ये 'महानाम्नी' ऋचाएँ महान् प्रभु के नामों का स्मरण कराने के कारण 'महानाम्नी' कहलाती हैं। प्रभु नाम-स्मरण से मनुष्य में ये शक्ति उत्पन्न करती हैं, अतः 'शक्वर्यः' नामवाली भी हो जाती हैं। इनका उपदेश यही है कि 'उस महान् प्रभु के नाम का जप करो और उसके अर्थ की भावना करो'। जीवन की सच्ची पवित्रता व शान्ति इसी से प्राप्त होती है। २. **रेवत्यः**=रेवत नामवाली **वाचः**=रेवती वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त करें। इन वाणियों से ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करने का बोध लेते हैं। ३. **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **प्रभूवरीः** =शक्तिशाली बनानेवाली **वाचः**=वाणियाँ **सूचीभिः**=अपनी सूत्रात्मक सूचनाओं से तुझे शान्त करें। इन वाणियों का उपदेश है कि तुम अपनी सब दिशाओं को शक्तिशाली बनाओ, अर्थात् सब दिशाओं में उन्नति करनेवाले बनो। तुम्हारा शरीर-मन-मस्तिष्क सभी प्रभावशाली हों। ४. **मैघीः**=मेघों के समान ज्ञानजल का वर्षण करनेवाली ये **वाचः**=वाणियाँ तुझे अपनी सूचनाओं से शान्त करें। इनकी सूचना है कि जैसे मेघ जल की वर्षा से औरों के सन्तापों को हरता है उसी प्रकार तू ज्ञानजल के वर्षण से औरों को सुखी करनेवाला हो। ५. **विद्युतः**=ये विशेष द्युतिवाली **वाचः**=वाणियाँ, विद्युत् के समान चमकती हुई सूचना दे रही हैं कि तू विशिष्ट ज्ञान से चमकनेवाला बन। यह सूचना तेरे जीवन का अङ्ग बने और तुझे शान्ति प्राप्त कराए।

भावार्थ—वेद की विविध वाणियाँ यह उपदेश दे रही हैं कि (क) तुम उस महान् प्रभु के नाम का स्मरण करो। (ख) वास्तविक ऐश्वर्य का अर्जन करो। (ग) सब दिशाओं में उन्नति करो। (घ) मेघों की भाँति सन्ताप हरनेवाले बनो और (ङ) बिजली की भाँति चमकते हुए अन्धेरे में औरों को रास्ता दिखानेवाले बनो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

सोम-विचयन

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ ३६॥

१. मन्त्र संख्या २९ में राजा की सभा को नारी=नरिष्टा=नरहितकारिणी कहा गया था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी पत्नीभूत, राष्ट्रयज्ञ के चलाने के लिए जिनके साथ तेरा संयोग हुआ है वे ये तेरी पत्नियाँ (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे) **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ, अर्थात् सभा के सब सभ्य **मनीषया**=(मनसः ईषा) मन पर शासन करने के दृष्टिकोण से **लोम विचिन्वन्तु**=(सामानि यस्य लोमानि) साम का, प्रभु की उपासना का

सञ्चय करें, अर्थात् प्रभु की उपासना के मन्त्रों का संग्रह करके उन मन्त्रों से प्रभु-स्तवन के द्वारा अपने मनों को विषयों में जाने से रोकनेवाली हों। २. **देवानां पत्न्यः**=इन्द्रादि देवताओं की पत्नीभूत ये **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **सूचीभिः**=सूत्रात्मक उपदेशों से **त्वा शम्यन्तु**=तुझे शान्त करनेवाली हों। 'प्राची' का उपदेश=प्र अञ्च्=आगे बढ़ने का है, 'दक्षिणा'=दक्षिण व कुशल बनने को कह रही है और 'प्रतीची'=विषयव्यावृत्त होकर इन्द्रियों को प्रत्याहृत करने का उपदेश देती है 'उदीची' (उद् अञ्च्) ऊपर उठने का उपदेश दे रही है। ये सब उपदेश तेरे जीवन में शान्ति लानेवाले बनें। ३. 'छन्दांसि वै लोमानि' (श० ६।४।१।६) इस वाक्य में छन्द को, वेद मन्त्रों को 'लोम' नाम दिया गया है। ये वेदमन्त्र छन्द हैं, पापवृत्तियों से सचमुच बचानेवाले हैं। गृहपत्नियाँ खाली समय में इन्हीं का विचयन (संग्रह) अध्ययन करेंगी तो उनका मन व्यर्थ की बातों में जाएगा ही नहीं। ऐसी पत्नियाँ सचमुच 'नार्य' नरहितकारिणी होंगी। अपने पति के लिए उत्तम गृह का निर्माण करती हुई उसके जीवन को सुखी करेंगी। भाइयों में संघर्ष का कारण भी न बनेंगी।

भावार्थ—राजसभा के सभ्य मन को वशीभूत करने के दृष्टिकोण से रिक्त समय में उपासना-मन्त्रों का संग्रह करें। दिशाएँ (पत्नियाँ) 'आगे बढ़ने' आदि उपदेशों से हमारे जीवनों में शान्ति स्थापित करें।

नोट—'लोम' शब्द का अर्थ 'लूञ् छेदने' से यदि छेदन किया जाए तो पूर्वार्द्ध का अर्थ इस प्रकार होगा कि हे राजन्! **ते पत्न्यः**=तेरी कार्य की पूरिका ये **नार्यः**=नरहितकारिणी सभाएँ **मनीषया**=बुद्धि से पूर्ण विचार करके, **लोम**=राष्ट्र के दोषों के छेदन का तथा शत्रुओं के उपद्रव के भेदन का **विचिन्वन्तु**=विचार करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**स्त्रियः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्तम गृहिणी

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥३७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में गृहिणियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **रजताः**=(अनुरक्तम्—द०) अनुरागवाली **हरिणीः**=अपने उत्तम व्यवहार व कार्यकुशलता से दुःखों का हरण करनेवाली अथवा मन को आकृष्ट करेनवाली, **सीसाः**=(षिञ् बन्धने) प्रेममय व्यवहार से घर में सबको परस्पर बाँधकर रखनेवाली, घर में लड़ाई-झगड़े न होने देनेवाली, **युजः**=सदा पति का साथ देनेवाली, उसके साथ मिलकर गृहस्थ के बोझ को उठानेवाली पत्नियाँ **कर्मभिः युज्यन्ते**=कर्मों से सदा सङ्गत रहती हैं। इनका जीवन कभी अकर्मण्यता का नहीं होता। २. **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली पति के **त्वचि**=संवरण में, रक्षा में, जैसे शरीर को त्वचा ने सुरक्षित किया हुआ है उसी प्रकार पति ने घर को सुरक्षित रखना है **सिमाः**=(सर्वाः=Whole) पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुई-हुई **शम्यन्तीः**=शान्ति को प्राप्त होती हुई **शम्यन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ३. प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी के गुणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है कि (क) **रजताः**=वे अनुरागवाली हों। प्रेम के अभाव में गृहस्थ-भवन की नींव ही नहीं पड़ सकती, (ख) **हरिणीः**=वे अपने उत्तम व्यवहार से कष्टों का हरण करनेवाली हों। पत्नी का व्यवहार ही घर को स्वर्ग व नरक बना देता है, (ग) **सीसाः**=पत्नियाँ प्रेममय व्यवहार से घर में सबको बाँधनेवाली हों। वे भाइयों को परस्पर झगड़ने न दें, (घ) **युजः**=सदा पति के कर्मों में सहयोग देनेवाली हों, (ङ) **युज्यन्ते**

कर्मभिः=कभी अकर्मण्य न हों, (च) **अश्वस्य वाजिनः त्वचि**=उन्हें कर्मशील शक्तिशाली पति का संरक्षण प्राप्त हो, (छ) **सिमाः**=वे पूर्ण स्वस्थ हों, विकलांग न हों, (ज) **शम्यन्ती**=शान्त स्वभाववाली हों। (झ) **शम्यन्तु**=औरों को शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

भावार्थ—गृहिणी उत्तम गुण-कर्म व स्वभाव से घर को स्वर्ग बनानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सभासदः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आत्मदेह-विवेक

कुविदङ्ग यवमन्तो यवञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति॥३८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार घर के शान्त वातावरण में ही मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति कर सकता है। घर स्वर्ग बनेगा तो वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। ये दिव्य वृत्तिवाले लोग **कुवित्**=खूब **अङ्ग**=शीघ्र ही, **यवमन्तः**=अच्छी कृषिवाले किसान **यव**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः एक ओर से **वियूय**=कुछ-कुछ अलग करके **दान्ति**=काटते चलते हैं, उसी प्रकार क्रमशः एक ओर से शुरू करके पहले अन्नमयकोश को, फिर प्राणमय, उसके बाद मनोमय, फिर विज्ञानमय व अन्त में आनन्दमय को अलग करके अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं। २. इन साधकों में कोई अभी 'अन्नमयकोश' मैं नहीं हूँ, ऐसा ही निश्चय करने का प्रयत्न कर रहा होता है, कोई इससे ऊपर 'प्राणमयकोश मैं नहीं हूँ' ऐसा निश्चय कर चुका होता है। कोई मनोमय से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहा होता है तो कोई विज्ञानमय तक पहुँच रहा होता है। कोई एक आध सौभाग्यशाली साधक आनन्दमय तक पहुँच गया होता है और आत्मानन्द ले-रहा होता है। हे प्रभो! आप **इह इह**=इस-इस स्थान में पहुँचे हुए इन सब अभियुक्त (साधना में लगे हुए) व्यक्तियों का **भोजनानि**=पालन **कृणुहि**=कीजिए। आप ही इनके योगक्षेम का ध्यान करते हैं। ३. आप उन सबके योगक्षेम को चलाते हैं **ये**=जो **बर्हिषः**=हृदय में से वासनाओं का उद्बर्हण करनेवाले लोग **नमउक्तिम्**=नमन के वचनों को, नम्रतापूर्ण स्तुति वचनों को **यजन्ति**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। वस्तुतः प्रभु के प्रति नमन ही उन्हें वासनाओं को उन्मूलित करने में सहायक होता है। वासनाओं के विनष्ट होने पर पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—एक-एक कोश को चिन्तनपूर्वक अलग करते हुए हम आत्मरूप को देख पाते हैं। इस आत्मरूप का दर्शन तभी होगा जब हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँगे। हृदय की पवित्रता प्रभु के प्रति नमन से होगी।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-दर्शक के प्रति प्रभु

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति।
कऽउ ते शमिता कविः॥३९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाले **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दस्वरूप प्रजापति **आछ्यति**=समन्तात् विषयों से छिन्न करता है, छुड़ाता है। प्रभु-स्मरण वासनाओं के विनाश का सर्वोत्तम व एकमात्र उपाय है। २. वे **कः त्वा**=आनन्दस्वरूप प्रभु ही तुझे वासनाओं से पृथक् करके **विशास्ति**=विशिष्ट अनुशासन करते हैं, विविध धर्मों का उपदेश करते हैं। और ३. इस उपदेश के द्वारा **कः**=वे आनन्दघन प्रजापति **ते**=तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **शम्यति**=शान्त

करते हैं। वासना की उष्णता नष्ट होकर हृदय में शान्ति के राज्य की स्थापना उस प्रभु के द्वारा की जाती है। ४. इस प्रकार वे **कः**=आनन्दमय व अनिर्वचनीय प्रजापति **कविः**=जो क्रान्तदर्शी हैं, वे **उ**=निश्चय से **ते**=तुझे **शमिता**=शान्ति देनेवाले हैं। प्रभुभक्त का हृदय पवित्र होता है, परिणामतः शान्त होता है। इस शान्तपुरुष को ही वास्तविक सुख का अनुभव होता है।

भावार्थ—अपने भक्त को प्रभु वासनाओं से विच्छिन्न करते हैं। उसको विशिष्ट अनुशासन करके शान्त अङ्गोंवाला करते हैं। ये क्रान्तदर्शी प्रभु ही वस्तुतः हमें शान्ति का लाभ कराते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ऋतुओं की अनुकूलता

ऋतवस्तऽऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा॥४०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता होने पर ब्रह्माण्ड के सभी देवों की अनुकूलता हो जाती है। उसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—**ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ **ते**=तेरे **ऋतुथा**=उस-उस ऋतु के अनुसार चलने से **पर्व**=एक-एक जोड़ को **शमितारः**=शान्त करनेवाली होकर **विशासतु**=विशिष्ट उपदेश दें। ऋतुएँ सब सुन्दर हैं, परन्तु जब मनुष्य प्रभु से दूर होकर विषयों में भटक जाता है तब उसके पर्वों में विविध मलों का संग्रह होकर शरीर में विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतुचर्या ठीक होने पर शरीर व मन दोनों नीरोग होते हैं और यह नीरोग व्यक्ति वसन्त आदि के उपदेश को जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करता है। यह 'वसन्त' की भाँति उत्तम निवासवाला व उत्तम शक्तियों के विकासवाला बनने का प्रयत्न करता है। 'ग्रीष्म' की भाँति उत्साहसम्पन्न व निरालस्य बनता है। 'वर्षा' के समान लोगों पर ज्ञान की वर्षा के द्वारा उनके सन्ताप को हरने का प्रयत्न करता है। 'शरद' की भाँति बुराईरूप सब पत्तों को अपने से झाड़नेवाला बनता है। बुराइयों को झाड़कर 'हेमन्त' की भाँति अपना (हि उपचये) उपचय (वृद्धि) करता है और 'शिशिर' से (शश प्लुतगतौ) तीव्र गति का उपदेश ग्रहण करता है। कार्यों में पूरे उत्साह से लगा रहता है। २. इस प्रकार ये सब ऋतुएँ मिलकर **'संवत्सर'**=(वर्ष) को बनाती हुई **संवत्सरस्य तेजसा**=सम्पूर्ण वर्ष की तेजस्विता से, अर्थात् जिस तेजस्विता में बीमार पड़ जाने के कारण कमी नहीं आ गई, उस तेजस्विता से तथा **शमीभिः**=(शमी=कर्म—नि० २।१) शान्तिपूर्वक किये जाते हुए कर्मों से **त्वा**=तुझे **शम्यन्तु**=शान्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए सब ऋतुएँ अनुकूल व सुन्दर होती हैं। वे उसके पर्व-पर्व को शान्त करनेवाली होती हैं। इन ऋतुओं से सूचित उपदेश को भक्त ग्रहण करता है और ये ऋतुएँ नीरोगता के कारण सम्पूर्ण वर्ष की अक्षीण तेजस्विता से तथा कर्मों से इसके जीवन को शान्त बनाती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रजाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दिन-रात, पक्षों व मासों की अनुकूलता

अर्द्धमासाः परूꣳषि ते मासाऽआ च्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टꣳसूदयन्तु ते॥४१॥

१. **अर्धमासाः**=आधे मास, अर्थात् शुक्लपक्ष व कृष्णपक्ष, **मासाः**=वर्ष के बारह

महीने, **शम्यन्तः**=तेरे जीवन को शान्त बनाते हुए **ते पर्वृषि**=तेरे सब जोड़ों (joints) को **आच्छ्यन्तु**=दोषों से छिन्न=रहित करें। दोनों पक्ष तेरे अनुकूल हों। मास भी तेरे अनुकूल हों। उनके अनुकूल व्यवहार करने से तेरे सब पर्व दोषशून्य हों। २. **अहोरात्राणि**=दिन-रात अर्थात् सदा **मरुतः**=ये ४९ प्रकार की वायु **ते**=तेरे **विलिष्टम्** =थोड़े-से भी अल्पीभाव व न्यूनता को **सूदयन्तु**=नष्ट करें। जिस समय मनुष्य प्रत्येक मास का ध्यान करते हुए तथा पक्षों का विचार करते हुए अपना आहार-विहार ठीक रखता है तो शरीर में सब प्राणवायुएँ ठीक कार्य करती हैं और वे **मरुत्**=प्राण दिन-रात उसकी न्यूनताओं को दूर करने में लगे रहते हैं। शरीर में होनेवाली थोड़ी-थोड़ी कमी को भी (विलिष्टम्) ये दूर करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—अर्धमास, मास, दिन-रात व प्राण (मरुत्) हमारे अनुकूल हों और हमारे थोड़े-से भी दोष को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**अध्यापकः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अनुकूल सङ्ग (सत्सङ्ग)

दैव्याऽअध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥४२॥

१. **दैव्याः**=(देवस्य इमे) उस प्रभु के भक्त पुरुष **अध्वर्यवः**=(अध्वरं कामयमानाः) यज्ञ की कामनावाले **त्वा**=तुझे **आच्छ्यन्तु**=सब प्रकार की बुराइयों से विच्छिन्न करें। **च**=और **विशासतु**=विशिष्ट रूप से अनुशासन करें। जो 'दैव्य अध्वर्यु' पुरुष हैं वे अपने जीवन के उदाहरण से हमें सुप्रेरणा प्राप्त कराते हैं और हमें बुरे मार्ग से हटाकर उत्तम मार्ग पर लाते हैं। इस प्रकार वे हमें बुराइयों से विच्छिन्न करनेवाले हैं। उन व्यक्तियों का उपदेश हमारे लिए सचमुच बड़ा प्रभावजनक होता है और २. **शम्यन्तीः**=तेरे जीवन को शान्त बनाती हुई **सिमाः**=(सर्वः=Whole) पूर्ण स्वस्थ तेरी शक्तियाँ **ते** =तेरे **गात्राणि**=अङ्गों को **पर्वशः**=एक-एक पर्व में **कृण्वन्तु**=संस्कृत करनेवाली हों। शान्त व स्वस्थ पत्नी पति को भी उसी प्रकार स्वस्थ व शान्त बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हमें 'दैव्य अध्वर्यु'=भक्त, यज्ञशील लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ भी शान्त व स्वस्थ हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सर्वलोकानुकूल्य

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥४३॥

१. **ते**=तेरा **द्यौः**=द्युलोक, **पृथिवी**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक तथा इस अन्तरिक्षलोक में चलनेवाली **वायुः**=वायु **ते छिद्रम्**=तेरे शरीर में होनेवाले दोषमात्र को **पृणातु**=भर दे, अर्थात् इन सबकी अनुकूलता से तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक हों। विकलाङ्गता तो हो ही नहीं। सकलाङ्गता के साथ वे सब अङ्ग अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण स्वस्थ हों। यहाँ '**ते**=तेरा' यह सम्बन्ध शब्द स्पष्ट कह रहा है कि इन सब लोकों के साथ हमारा अपनापन हो। ये सब हमारे मित्र हों न कि शत्रु। २. **सूर्यः**=यह सूर्य **नक्षत्रैः सह**=अन्य सब नक्षत्रों के साथ **ते लोकम्**=तेरे दर्शन को (लोक दर्शने) तेरी दृष्टिशक्ति को **साधुया**

कृणोतु=साधु, समीचीन, उत्तम बना दे। वस्तुतः सूर्य दृष्टिशक्ति बनकर अक्षि में निवास करता है। इस सूर्य की अनुकूलता होने पर हमारी दृष्टिशक्ति के ठीक होने पर हमारा यह संसार भी सुन्दर हो जाता है।

भावार्थ—द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, वायु, सूर्य तथा नक्षत्र ये सब हमारे अनुकूल होकर हमारे शरीरों को निर्दोष करें तथा हमारी दृष्टिशक्ति को उत्तम करके हमारे संसार को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**राजा**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

शमन्वित (शान्तिगुणयुक्त) शरीर

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।

शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥४४॥

१. बाह्य संसार की अनुकूलता होने पर यह शरीररूप छोटा पिण्ड भी बड़ा स्वस्थ बनता है, अतः कहते हैं कि गतमन्त्र के अनुसार द्युलोक आदि की अनुकूलता होने पर तेरे **परेभ्यः गात्रेभ्यः**=उत्कृष्ट, ऊपर के सिर, हाथ आदि अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति हो। **अवरेभ्यः (गात्रेभ्यः) शम् अस्तु**=अवर (lower), निचले पाँव आदि अङ्गों के लिए शान्ति हो। २. **अस्थभ्यः मज्जभ्यः**=शरीर की सब दुर्बलताओं को दूर फेंकनेवाली (अस्यन्ति=क्षिपन्ति) इन हड्डियों के लिए तथा (मज्जन्ति शुचन्ति=शुद्धिं कुर्वन्ति) शोधन करनेवाली मज्जा के लिए **शम्**=शान्ति हो। हड्डियों के ठीक होने पर ही शरीर का ठीक होना निर्भर है। इनकी निर्बलता मनुष्य को दुःख देती है। मज्जा के ठीक होने पर शरीर शुद्ध बना रहता है। ३. इस प्रकार **तव**=तेरे **तन्वै**=सम्पूर्ण शरीर के लिए **उ**=निश्चय से **शम् अस्तु**=शान्ति हो।

भावार्थ—बाह्य द्युलोक आदि की अनुकूलता से हमारे पर, अवर सब गात्र तथा अस्थि व मज्जा तथा सम्पूर्ण शरीर रोगों के उपद्रव से रहित व शान्त हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्मोद्य=ज्ञानचर्चा

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।

किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥४५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥४६॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार शरीर के स्वस्थ व शमगुणयुक्त होने पर मनुष्य उत्तम ज्ञानचर्चाएँ करते हुए परस्पर प्रश्नोत्तर के प्रकार से ज्ञान का विस्तार करते हैं और उदाहरण के लिए निम्न प्रश्न उपस्थित करते हैं—(क) **स्वित्**=भला **कः**=कौन **एकाकी**=अकेला **चरति**=विचरता है? किसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती? (ख) **कः स्वित्**=कौन भला **पुनः**=फिर **जायते**=विकास को प्राप्त करता है? (ग) **किं स्वित्**=भला क्या **हिमस्य भेषजम्**=हिम का, ठण्डक का औषध है? (घ) **उ**=और **किम्**=क्या **महत्**=महान् **आवपनम्**=बोने का स्थान है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क)

सूर्यः=सूर्य **एकाकी चरति**=अकेला विचरता है। पृथिवी आदि सूर्य से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर घूमें तो घूमें, सूर्य को इनकी अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार अपराश्रित रूप से विचरनेवाला व्यक्ति ही सूर्य की भाँति चमकता है। स्वतन्त्रता में ही चमक है, (ख) **चन्द्रमा**=चाँद **पुनः**=फिर, कृष्णपक्ष में क्षीण होकर शुक्लपक्ष में फिर से **जायते**=विकसित हो जाता है। शरीर में यही चन्द्रमा मन है और मन के विकास के अनुपात में ही मनुष्य का विकास होता है, (ग) **हिमस्य**=ठण्डक का **भेषजम्**=औषध **अग्निः**=अग्नि है। शरीर में वाणी ही अग्नि है। यह वाणी किसी भी ठण्डे पड़े आन्दोलन को फिर से प्रचण्ड कर देने का सामर्थ्य रखती है, (घ) **भूमिः**=यह भूमि ही **महत् आवपनम्**=सबसे महत्त्वपूर्ण बोने का स्थान है। 'पृथिवी शरीरम्' अध्यात्म में शरीर ही पृथिवी है। मनुष्य इसी में वीर्य का वपन करता है। शरीर में वीर्य को सुरक्षित करने पर ही यह बीज ज्ञानाङ्कुर व अन्य दिव्यांकुरों को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपराश्रित होकर विचरेंगे तो सूर्य की भाँति चमकेंगे। मन को विकसित करके अपने विकास को साधेंगे। वाणी से उत्साह का सञ्चार करेंगे तो शरीर एवं पृथिवी को बीज-(वीर्य)-वपन का स्थान बनाते हुए ज्ञान व दिव्य गुणों के अंकुरों को प्रादुर्भूत करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**जिज्ञासुः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म-द्यौः-इन्द्र-गौः

किꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किꣳसमुद्रसमꣳसरः।
किꣳस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥४७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ब्रह्मादयः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳसरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते॥४८॥

१. **स्वित्**=भला **सूर्यसमम्**=सूर्य के समान **ज्योतिः**=प्रकाश **किम्**=क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **ब्रह्म**=परमात्मा ही **सूर्यसमं ज्योति** :=सूर्य के समान प्रकाश हैं। वेद में प्रभु को 'आदित्यवर्णम्' शब्द से स्मरण किया गया है। गीता में **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः'** इन शब्दों में प्रभु की ज्योति को हजारों सूर्यों की समुदित ज्योति से प्रतितुलित करने का प्रयत्न किया गया है। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** इन वेद के शब्दों में प्रभु को सूर्य की तेजस्विता का कारण कहा है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश है और चन्द्रमा उसकी एक किरण से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रभु स्वयं प्रकाश हैं। जीव उस प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता है। (ख) यही ब्रह्म अध्यात्म में ज्ञान है। ज्ञान ही सूर्यसम ज्योति है। हमें अपने ज्ञान को सूर्य के समान दीप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। २. दूसरा प्रश्न, **समुद्रसमं सरः किम्**=समुद्र के समान तालाब कौन-सा है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **द्यौः**=द्युलोक ही **समुद्रसमं सरः**=समुद्र के समान तालाब है। वस्तुतः द्युलोकस्थ सूर्य इस पृथिवी के तालाबरूप समुद्र के पानी को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और वे वाष्प ऊपर जाकर कुछ घनीभूत होकर मेघरूप में परिणित होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र का निर्माण करते हैं और इस प्रकार द्युलोक इस समुद्र के समान एक महान् 'सर' बन जाता है। (ख)

शरीर में ये जल रेतस् रूप में रहते हैं। मूलाधारचक्र के समीप इनका स्थान है। प्राणायाम आदि की उष्णता से इनकी ऊर्ध्वगति होकर ये मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानाग्नि का उसी प्रकार ईंधन बनते हैं जिस प्रकार अन्तरिक्ष में मेघजल विद्युत् का। ३. तीसरा प्रश्न है **पृथिव्यै**=(पृथिव्याः) पृथिवी से **वर्षीयः**=अधिक बड़ा, अधिक पुराना **किं स्वित्**=क्या है? अथवा पृथिवी के लिए सर्वाधिक वृष्टि करनेवाला कौन है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **इन्द्रः**=सूर्य **पृथिव्यै**=पृथिवी से **वर्षीयान्**=बड़ा व पुराना है। उसी का एक अंशभूत यह पृथिवी है। किसी समय यह पृथिवी उस देदीप्यमान विराट् पिण्ड का ही भाग थी। सूर्य इस पृथिवी से १३ लाख गुणा बड़ा है। वह सूर्य ही इस पृथिवी पर वर्षा का भी कारण बनता है। (ख) अध्यात्म में जीव जब 'इन्द्र' बनता है। सब असुरों का संहार करनेवाला बनता है तब इस पृथिवीरूप शरीर के लिए अधिक-से-अधिक सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ४. चौथा प्रश्न है **कस्य मात्रा न विद्यते**=किसकी मात्रा नहीं है? कौन सीमित नहीं है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **गोः**=ज्ञान की वाणी की **तु**=तो **मात्रा**=माप **न विद्यते**=नहीं है। ज्ञान अनन्त है 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्'=Art is long। ज्ञान का कहीं अन्त है? (ख) एक ही वस्तु का मनुष्य के लिए माप नहीं है और वह है 'ज्ञान की प्राप्ति'। जितना भी हम अधिक ज्ञान प्राप्त करें, वह थोड़ा है। ज्ञान की मात्रा नहीं है। जितना ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही कल्याण होगा।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। हमें भी ज्योतिर्मय बनकर प्रभु-जैसा बनना है। मेघों से अन्तरिक्षीय समुद्र बना है। हमें भी वीर्यरूप जलों की ऊर्ध्वगति कर द्युलोकरूप मस्तिष्क में ज्ञानजल को भरना है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास करना है। हम असुरों के संहार करनेवाले इन्द्र बनकर इस शरीर में सुखों की वर्षा कर सकते हैं। जितना भी अधिक हो सके हम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टृसमाधातारौः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

पद-त्रयी

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमा विवेशाँ३॥८॥४९॥

१. यज्ञ की समाप्ति पर परस्पर ज्ञानचर्चा करते हुए उद्गाता ब्रह्मा से कहता है कि हे ब्रह्मन्! **देवसख**=देवों के मित्र अथवा उस देवाधिदेव प्रभु के समान ख्यानवाले (ख्यान=नाम व दर्शन)! **चितये**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **त्वा पृच्छामि**=आपसे मैं यह पूछता हूँ कि **यदि**=अगर **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **मनसा** =मनन के द्वारा **जगन्थ**=गये हैं, अर्थात् यदि विचार करते-करते आपने इस बात को समझा है, यदि आप जानते हैं तो मुझे भी बतलाइए। मैं केवल जिज्ञासुभाव से प्रश्न कर रहा हूँ—'मुझमें कोई विजिगीषा की भावना हो' ऐसा नहीं। मैं जल्प व वितण्डा की वृत्ति को अपनाकर प्रश्न नहीं कर रहा हूँ। शुद्ध (सं) वाद के विचार से मेरा प्रश्न है। २. प्रश्न मेरा उन लोकों के विषय में है **येषु**=जिन **त्रिषु पदेषु**=तीन पदों में **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **इष्टः**=(=आ इष्टः) सर्वथा चाहा गया है, (इष् इच्छायाम्), अर्थात् वह पूजा के योग्य (यज+क्त) है। **तेषु**=उन्हीं तीन पदों में ही तो **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है।

इस प्रकार प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अपि॒ तेषु॑ त्रि॒षु प॒देष्वस्मि॒ येषु॒ विश्व॒ं भुव॑नमा वि॒वेश॑।
स॒द्यः पर्ये॑मि पृथि॒वीमु॒त द्याम॑ेके॒नाङ्गे॑न दि॒वोऽअ॒स्य पृ॒ष्ठम्॥५०॥

१. **तेषु त्रिषु पदेषु अपि अस्मि**=उन तीनों लोकों में भी मैं हूँ, अर्थात् उन तीनों लोकों का मुझे खूब ज्ञान है **येषु विश्वं भुवनं आविवेश**=जिनमें यह सारा ब्रह्माण्ड समा जाता है। वस्तुतः एक-एक कदम में एक-एक लोक को व्याप्त करने से ही **विष्णु** 'त्रि-विक्रम' कहलाये हैं। २. मैं **सद्यः**=शीघ्र ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इस पृथिवी का ज्ञान ही ब्रह्मचर्यसूक्त में ज्ञानाग्नि की प्रथम समिधा कही गई है। 'पृथिवी' शब्द वेद में अन्तरिक्ष का भी वाचक है, अतः इस पृथिवी शब्द से अन्तरिक्ष का भी यहाँ ग्रहण करना है। मैं अन्तरिक्षलोक को भी जानता हूँ। यही ज्ञानाग्नि की द्वितीय समिधा है। ३. **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को भी **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येमि**=चारों ओर से व्याप्त करता हूँ। द्युलोक का भी मैं ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। यही ज्ञान मेरी ज्ञानाग्नि की तृतीय समिधा बनता है। ४. **एकेन अङ्गेन**=और अद्वितीय (अनुपम) प्रथम कोटि के ज्ञान से (अगि गतौ) **अस्य दिवः**=इस द्युलोक के **पृष्ठम्**=आधारभूत ब्रह्मलोक को जानता हूँ। अथवा पुरुषसूक्त के इन शब्दों के अनुसार कि 'वह प्रभु पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके इससे भी ऊपर उठे हुए हैं तथा यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में है। 'पृष्ठम्' शब्द का अर्थ द्युलोक से ऊपर का भाग भी किया जा सकता है। मैं द्युलोक के जो परे है उसे भी जानता हूँ। इन तीनों लोकों को जानते हुए चतुर्थ ब्रह्मलोक को भी जानता हूँ। मेरा ज्ञान त्रिपात् न होकर चतुष्पात् है। इन लोकों से प्रभु का ज्ञान होता है, अतः वे लोक 'पद' (पद्यते) कहलाये हैं, इन तीनों पदों से ऊपर प्रभु स्वयं पद (पद्यते) हैं, ज्ञानगम्य हैं। उन्हीं को जानकर मनुष्य अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—१. हम इस पृथिवीलोक का ज्ञान प्राप्त करें। पृथिवीस्थ देवों में हमें प्रभु की महिमा दिखेगी। इन देवों की मुखिया 'अग्नि' तो उस प्रभु की 'विभूति' ही है—'वसूनां पावकोऽस्मि'। २. अन्तरिक्षस्थ देवों का ज्ञान प्राप्त करने पर उनमें प्रभु-माहात्म्य दृष्टिगोचर होगा। अन्तरिक्ष का मुख्यदेव वायु तो प्रभु की स्पष्ट विभूति है—**'पवनः पवतामस्मि'**। ३. हमें द्युलोक के देवों का ज्ञान प्राप्त कर सूर्य में प्रभु-माहात्म्य का चरम सौन्दर्य देखना है—**'ज्योतिषां रविरंशुमान्'**। इस प्रकार तीनों पदों में प्रभु-माहात्म्य को देखकर ही व्यक्ति देवसख=प्रभुरूप मित्रवाला (Friend of God) बनता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**पुरुषेश्वरः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अन्तःपुरुष

केष्व॒न्तः पुरु॑ष॒ऽआ वि॑वेश॒ कान्य॒न्तः पुरु॑षे॒ऽअर्पि॑तानि।
एत॒द् ब्रह्म॒न्नुप॑ वल्हामसि त्वा॒ किꣳस्वि॑न्नः॒ प्रति॑ वोचा॒स्यत्र॑॥५१॥

१. पिछले प्रश्न का उत्तर पाकर उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि हे ब्रह्मन्! **पुरुषः**=पुरुष **केष्वन्तः**=किनके अन्दर **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ-हुआ है और **कानि**=कौन-कौन **अन्तः पुरुषे**=इस अन्तःस्थित पुरुष में **अर्पितानि**=आश्रित हैं, कौन-सी वस्तुएँ पुरुष के आश्रय पर विद्यमान हैं। हे **ब्रह्मन्**:=ब्रह्मन् **त्वा**=आपसे **एतत्**=यह **उपवल्हामसि**=(उपसंगम्याहूयोत्क्षिप्य

बाहू पृच्छामि–उ०) समीप आकर, ललकारकर व बाहु उठाकर पूछते हैं। देखें **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमें **अत्र**=इस विषय में **प्रतिवोचासि**=आप प्रत्युत्तर देते हैं।

उद्गाता के इस प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं–

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**परमेश्वरः**। छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआ विवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥५२॥

१. **पञ्चस्वन्तः**=पाँच के अन्दर **पुरुषः**=पुरुष **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। (क) 'अन्नमयकोश' उसका सबसे बाहर का आवरण है, उसके अन्दर क्रमशः 'प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' कोश हैं। इनके अन्दर इस शरीररूप पुरी में शयन व निवास करनेवाला यह जीवात्मा प्रविष्ट हुआ है। (ख) इस रूप में भी कह सकते हैं कि 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पञ्चभूतों से बने इस शरीर में वह शरीरी पुरुष प्रविष्ट हो रहा है। (ग) इस शरीर में पाँचों प्राणों में भी उसी की शक्ति काम कर रही है। पाँचों प्राणों में भी यही प्रविष्ट है। (घ) पाँचों कर्मेन्द्रियों में स्थित होकर वही इनसे कार्य कर रहा है। (ङ) और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता वही पुरुष है। (च) इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृरूपेण यह 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध' आदि पाँच तन्मात्राओं का ग्रहण करनेवाला बनता है। २. **तानि**=वे सबके सब **अन्तः पुरुषे**=अन्तःस्थित पुरुष पर ही **अर्पितानि**=आश्रित हैं। इसके इस शरीर को छोड़ने पर (क) उन सब कोशों का अन्त हो जाता है। (ख) यह पाँच भौतिक शरीर विनष्ट होकर पञ्चभूतों में विलीन हो जाता है–पृथिवी तत्त्व पृथिवी में मिल जाता है तो जलीय तत्त्व जल में, अग्नि अग्नि में मिली, वायु, वायु में गया और आकाश महाकाश के रूप में दिखने लगा। (ग) इसी प्रकार पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का भी विलय हो जाता है। उस समय इन 'शब्दादि' पञ्चतन्मात्राओं का भी यहाँ ग्रहण नहीं होता। ३. (क) जब तक इस पाँच भौतिक शरीर में यह पुरुष विद्यमान रहता है तभी तक वह एक सद्गृहस्थ से धारण के योग्य 'अन्वाहार्यपचनदक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य व आवसथ्य' इन पाँचों अग्नियों का धारण करता है। (ख) बड़ों को पञ्चाङ्ग प्रणाम करने का (बाहुभ्यां चैव जानुभ्यः शिरसा वक्षसा दृशा) ध्यान करता है। (ग) शरीर के पोषण के लिए 'दूध, शर्करा, घृत-दधि-मधु' इस पंचामृत का विधिवत् सेवन करता है। (घ) पंचावयव अनुमान वाक्य से (इदं जगत् सकर्तृकम्, कार्यत्वात् घटवत्, यत् यत् कार्यं तत् तत् सकर्तृकं यथाः घटः, इदं जगत् अपि कार्यं, तस्माद् सकर्तृकम्) प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय व निगमन का ठीक प्रयोग करता हुआ ईश्वरादि परोक्ष पदार्थों का निश्चय करता है। (ङ) पंचशर (कामदेव) के 'संमोहन-उन्मादन-शोषण-तापन-स्तम्भन' पाँच बाणों का शिकार न होने के लिए यही पुरुष 'पञ्चतप' तपस्या भी किया करता है (चतुर्दिक् अग्नि व सूर्य)। (च) इस स्थूल शरीर के शोधन के लिए 'वमन-रेचन-नस्य-अनुवासन (oily enema) उनिरुह (enema not oily) इन पाँच कर्मों का भी यह कभी-कभी प्रयोग करता है। (छ) ऐसे अवसरों पर यह 'पंचगव्य' (क्षीरं दधि तथा चाज्यं मूत्रं गोमयमेव च) के प्रयोग का ध्यान करता है। (ण) पाँच मकारों से (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) बचता है। (झ) पाँच पर्वों को (चतुर्दशी-अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा, रवि-संक्रान्ति) प्रभुपूजा में व्यतीत करता हुआ अपने में उत्तमताओं को भरता है। (ज) पञ्च महायज्ञों का करना (ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-

पितृयज्ञ-अतिथियज्ञ-बलिवैश्वदेवयज्ञ) इसे कभी विस्मृत नहीं होता। इन्हीं के द्वारा वह गृहस्थ के अन्दर वर्त्तमान पाँच सूनाओं (slaughter houses) का प्रायश्चित्त करता है। (पञ्च सूनाः गृहस्थस्य चुल्ली-पेषण्युपस्करः कंडनी-उदकुम्भश्च)। (ट) इस प्रकार यह पञ्चार्पित पुरुष संसार की अभिनय-स्थली में पञ्चाङ्ग अभिनय करता हुआ जीवनयापन करता है 'चित्ता-क्षिभ्रूहस्तपादैरंगैश्चेष्टादिताम्यतः पात्राद्यवस्थाकरणं पंचांगोऽभिनयो मतः'। ४. इस प्रकार ब्रह्मा उत्तर देकर कहते हैं कि **एतत्**=यह **अत्र**=इस विषय में **त्वा प्रति मन्वानः**=तेरे प्रति मननपूर्वक विचार को उपस्थित करता हुआ **अस्मि**=मैं हूँ। **मायया**=बुद्धि से तू **मत् उत्तरः**=मुझसे अधिक उत्कृष्ट **न भवसि**=नहीं होता है। तू मुझे बुद्धि से जीत नहीं सकता।

भावार्थ—हम पाँचों के अन्दर प्रविष्ट व अन्तः प्रविष्ट होकर पाँचों का धारण करनेवाले आत्मस्वरूप का मनन करनेवाले बनें।

सूचना—यहाँ प्रश्नोत्तर में ज्ञानविषयक स्वस्थ स्पर्धा द्रष्टव्य है। उद्गाता का ललकारना व ब्रह्मा का चैलेञ्ज को स्वीकार करना सचमुच अभिनयात्मक है। ऐसी ज्ञान-चर्चाएँ ही मानवजाति के उत्थान का कारण हो सकती हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पूर्वचित्तिः बृहद्वयः

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥५३॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला॥५४॥

१. इसी अध्याय के मन्त्र संख्या ११-१२ पर इनका विस्तृत अर्थ है। यहाँ ज्ञानचर्चा के प्रसंग में इनको पुनः उपस्थित करने का उद्देश्य यह है कि **का स्वित्**=भला **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य वस्तु **आसीत्**=क्या है?' इस प्रश्न का यह उत्तर कि "**द्यौः**=मस्तिष्क ही **पूर्वचित्तिः**=सर्वप्रथम ध्यान देने की वस्तु **आसीत्**=है'। हम यह कभी भूलें नहीं कि मस्तिष्क के विकास से ही तो हम गतमन्त्र में दिये गये उत्तर को देने की योग्यतावाले ब्रह्मा बन पाएँगे। २. **किं स्वित्**=भला **बृहद्**=वर्धनशील **वयः**=पक्षी (जीव) क्या है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अश्वः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला जीव ही **बृहद् वयः**=वर्धनशील पक्षी है। वेद में परमात्मा व आत्मा को 'द्वा सुपर्णा'=दो पक्षियों के रूप में स्मरण किया है। परमात्मा सदा बढ़े हुए हैं, जीव अल्प होने से सदा सन्मार्ग पर चलते हुए बढ़ा करता है। ३. तीसरा प्रश्न है **स्वित्**=भला **का**=कौन **पिलिप्पिला**='चिक्कण, आर्द्र व शोभना' भी है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अविः**=आत्मरक्षण करनेवाला ही शरीर में पिलिप्पिला=स्वास्थ्य की स्निग्धतावाली, मन में दया की आर्द्रतावाली तथा मस्तिष्क में ज्ञान की शोभावाली श्री से युक्त होता है। ४. चौथा प्रश्न है **किं स्वित्**=भला **का**=कौन **पिशङ्गिला आसीत्**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली है? उत्तर देते हैं कि **रात्रिः**=रात **पिशङ्गिला आसीत्**=रूपों को निगल जानेवाली है। रात को सब रूप समाप्त होकर कृष्ण-ही-कृष्ण दिखता है। प्रलयकाल को भी (तम आसीत् तमसा गूळहमग्रे) अन्धकारमय होने से तम व रात्रि कहते हैं। उस प्रलयकाल में भी ये रूप समाप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क को ध्येय वसुओं में सबसे ऊपर रक्खें। सबसे अधिक हमें इसी का ध्यान करना है। कर्मों में सदा व्याप्त रहकर हम वर्धनशील हों। आधि-व्याधियों से अपने को बचाते हुए हम स्निग्ध शरीर, आर्द्र हृदय व शोभन मस्तिष्कवाले हों। हम इस बात को न भूलें कि हमारे जीवन में भी महानिद्रा की रात्रि आनी है, जिसमें ये सब भौतिक तड़क-भड़क (रूप) समाप्त हो जाएगी, अतः इसको इतना महत्त्व क्यों देना?

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अज-श्वावित्, शश-अहिः

काऽईमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति॥५५॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शशऽआस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति॥५६॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों में पिछले मन्त्रों के अन्तिम प्रश्न को फिर से दुहराया गया है। दुहराने का कारण यह है कि 'प्रलयकाल के समय शरीर प्रकृति में विलीन हो जाते हैं' तो आत्मा कहाँ रहती है? इसका स्पष्टीकरण अभीष्ट है, अतः प्रश्न को भी दो भागों में बाँटकर दो प्रश्नों के रूप में करते हुए पूछते हैं कि **अरे**=अयि क्रियाशील विद्वन्! (ऋ गतौ) **ईम्**=निश्चय से **पिशङ्गिला का**=सब रूपों को निगीर्ण कर जानेवाली कौन वस्तु है और **ईम्**=निश्चय से **का**=कौन **कुरुपिशङ्गिला**=(कर्मकर्तुः जीवस्य पिशङ्गिलति) इस कर्म करनेवाले जीव के रूप को निगलनेवाली है। २. तीसरा प्रश्न है कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **आस्कन्दम्**=समन्तात् शत्रुशोषण को **अर्षति**=प्राप्त होता है, अर्थात् कौन शत्रुओं का शोषण करता है? तथा चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि **ईम्**=निश्चय से **कः**=कौन **पन्थाम्**=मार्ग पर **विसर्पति**=विशिष्ट रूप से गति करता है? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अरे**=अयि प्रश्नकर्तः! तू यह समझ कि **अजा**=प्रकृति **पिशङ्गिला**=सब रूपों को अपने में निगीर्ण कर लेती है। जैसे घड़ा टूटता है, पिसते-पिसते मिटी बन जाता है। घड़े के रूप को मिट्टी अपने में निगीर्ण कर लेती है। इसी प्रकार वे सब सूर्य, चन्द्र, तारों के आकार प्रलय के समय प्रकृति में छिप जाएँगे। मनु के शब्दों में यह सारा संसार प्रकृति में जा सोएगा (प्रसुप्तमिव सर्वतः।) ४. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जब जीव का यह भौतिक शरीर प्रकृति में चला जाएगा उस समय इस जीव को प्रभु अपने में स्थापित कर लेंगे। वे **श्वावित्**=(मातरिश्वा=श्वा, जैसे सत्यभामा=भामा) जीव को सदा प्राप्त (विद्=लाभ) होनेवाले, जीव के सतत सखा प्रभु (सयुजा सखाया) **कुरुपिशङ्गिला**=इस क्रियाशील चेतन जीव के रूप को अपने में धारण कर लेंगे, जैसे रात्रि के समय बच्चा माता की गोद में आराम से सोया हुआ होता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में प्रभु हम जीवों को अपनी गोद में सुलानेवाले होंगे। कुछ देर के लिए हमारे सारे कष्ट समाप्त हो जाएँगे। हम सुषुप्ति में होंगे और ब्रह्मरूप-से होंगे। **'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'** (सांख्य)। ५. तृतीय प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि **शश**=प्लुतगतिवाला पुरुष, आलस्यशून्य कर्म करनेवाला पुरुष ही **आस्कन्दम्**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध-आदि शत्रुओं के शोषण को **अर्षति**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता में ही काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश है। ६. चौथे

प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अहिः**=(न हन्ति अथवा अह्नोति अह व्याप्तौ) न हिंसा करनेवाला व्यक्ति तथा सदा लोकहित के व्यापक कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही **पन्थां विसर्पति**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है, अर्थात् संसार में मार्गभ्रष्ट वही व्यक्ति है जो (क) हिंसारत है, (ख) व्यापक मनोवृत्ति बनाकर कर्मों में नहीं लगा हुआ, (ग) स्वार्थी है।

भावार्थ—प्रलयकाल के समय ये सब कार्यपदार्थ कारणप्रकृति में चले जाएँगे, जीव प्रभु की गोद में सो जाएँगे। 'फिर जन्म न हो' इसके लिए चाहिए कि क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं का हम शोषण कर दें और अहिंसक बनकर सदा व्यापक कर्मों में लगे रहें, स्वार्थ से सदा ऊपर उठे रहें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञ-मीमांसा

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५७॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समिधा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतारऽऋतुशो यजन्ति ॥५८॥

१. ब्रह्मा उद्गाता से प्रश्न करता है **अस्य**=इस यज्ञ के **कति**=कितने **विष्ठाः**=(विशेषेण तिष्ठति यज्ञो यासु) विशेषरूप से ठहरने के स्थान हैं? **कति अक्षराणि**=कितने इस यज्ञ के अक्षर हैं? **होमासः कति**=कितने होम हैं? **कतिधा समिद्धः**=कितने प्रकार से यह समिद्ध होता है? मैं **यज्ञस्य विदथा**=यज्ञ के ज्ञान के विषयों को **त्वा**=तुझे **अत्र**=यहाँ **पृच्छम्**=पूछता हूँ। **कति होतारः**=कितने होता **ऋतुशः**=ऋतु-ऋतु में, हर ऋतु में, **यजन्ति**=इस यज्ञ को करते हैं? २. उत्तर देते हुए उद्गाता कहते हैं कि (क) **अस्य**=इस यज्ञ के **षट्**=छह **विष्ठाः**=विशेषरूप से स्थित होने के स्थान हैं। 'विष्ठा' शब्द यहाँ अन्न का वाचक हो जाता है, क्योंकि यज्ञ अन्नों में ही स्थित है। यज्ञ से होनेवाले पर्जन्य से अन्न की उत्पत्ति होती है और इस 'पृथिवी-जल-वायु-अग्नि-सूर्य' आदि देवों से दिये हुए अन्न को इन देवों को बिना दिये खानेवाला स्तेन (चोर=one who steels) कहलाता है, अतः अन्न के खाने से पहले इसे देवों के लिए देना होता है। देव 'अग्निमुख' हैं, अतः अग्नि में अन्न की आहुति दी जाती है, यही यज्ञ है। यह अन्न षट् रसोंवाला है, अतः अन्नों की भी संख्या छह कह दी गई है—ये छह अन्न ही यज्ञ के विष्ठा हैं, विशिष्ट आधार हैं। (ख) कितने अक्षर हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं **शतम् अक्षराणि**=सौ इसके अक्षर हैं। सौ अक्षर कहने का अभिप्राय यह है कि यज्ञों में जिन मन्त्रों का उच्चारण होता है उनके १४ छन्द गायत्री से लेकर अतिधृतिपर्यन्त हैं। गायत्री की अक्षर संख्या २४ है और ४-४ बढ़कर अन्तिम अतिधृति की अक्षर संख्या छियत्तर है। अब इनमें क्रमोत्क्रम गति से (पहला+अन्तिम, द्वितीय+अन्तिम से पहला इस प्रकार) दो-दो छन्दों के अक्षर १००, १०० ही बनते हैं। गायत्री २४+७६ अतिधृति=१००) उष्णिक् २८+७२ धृति=१००, अनुष्टुप् ३२+६८ अत्यष्टि=१००, बृहती ३६+६४ अष्टि=१००, पंक्ति ४०+६० अतिशक्वरी=१००, त्रिष्टुप् ४४+५६ शक्वरी=१००, जगती ४८+५२ अतिजगती=१००। इस प्रकार यज्ञ इन्हीं १०० अक्षरोंवाला है। (ग) 'कति होमासः' का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अशीतिः होमाः**=अस्सी होम हैं।

शतपथब्राह्मण ८।५।२।१७ में 'अन्नमशीतिः' इस वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि अन्न ही होम है। होम में अन्न का ही प्रयोग होता है, मांस का नहीं। अन्न सम्भवतः ८० भागों में बटे हैं, अतः उन अन्नों से होनेवाले होम भी ८० हो गये हैं। शतपथब्राह्मण (९।१।१।२१) में 'अन्नम् अशीतयः' ऐसा कहा ही है, अतः ८० प्रकार के अन्न ८० प्रकार के होमों का कारण बनते हैं। (घ) **ह**=निश्चय से इस यज्ञ की **समिधः तिस्रः**=तीन समिधाएँ हैं। अग्निहोत्र में अब भी तीन समिधाएँ के डालने की परिपाटी चलती है। इसका आध्यात्मिक संकेत यह होता है कि आचार्य विद्यार्थी की ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, द्यौ व अन्तरिक्ष' के पदार्थों के ज्ञान की समिधाएँ डालने के लिए यत्नशील हो। हम अपने जीवनयज्ञ में 'सत्य, यश व श्री' को धारण करने का प्रयत्न करें। ३. इस प्रकार कहकर उद्गाता कहता है कि **यज्ञस्य**=यज्ञ के **विदथा**=ज्ञान के हेतु से **ते प्रब्रवीमि**=आपके प्रति मैं यह सब कहता हूँ और **सप्त होतारः**=सात होता शिरःस्थ सात प्राण (कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम्) अथवा पाँच ज्ञानेद्रियाँ मन तथा बुद्धि—ये सात मिलकर **ऋतुशः**=उस-उस ऋतु के अनुसार **यजन्ति**=यज्ञ करते हैं। जिस-जिस ऋतु में जैसी-जैसी सामग्री अभीष्ट होती है, उसका विचार करके यज्ञ को अधिक-से-अधिक लाभकारी बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—यज्ञ के आधार अन्न हैं। वे अस्सी प्रकार के हैं, अतः होम भी अस्सी हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि सब मिलकर यज्ञों को ऋतु के अनुसार करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सृष्टि की अज्ञेयता

कोऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥५९॥

१. उद्गाता ब्रह्मा से पूछता है कि (क) **कः**=कौन **अस्य भुवनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **नाभिम्**=(नह्यते यत्र) बन्धनस्थान को **वेद**=जानता है? नाभि में जैसे सारी नाड़ियों का बन्धन है, इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड का बन्धन किसमें है? किसमें बँधा होने के कारण यह गिर नहीं जाता? कौन इसे धारण किये हुए है? (ख) **कः**=कौन इस ब्रह्माण्ड की **द्यावा-पृथिवी-अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूप त्रिलोकी को जानता है? इनके स्वरूप को कौन पूरा-पूरा समझता है? (ग) **कः**=कौन **बृहतः सूर्यस्य**=महान् सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है? सूर्य किस प्रकार पैदा हुआ इस बात का उत्तर कौन दे सकता है? (घ) और **कः**=कौन **वेद**=जानता है, इस **चन्द्रमसम्**=चन्द्रमा को कि **यतोजाः**=जिससे यह उत्पन्न हुआ है?

इस प्रकार इस रहस्यमय सृष्टि की उत्पत्ति व धारण के विषय में प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा उत्तर देते हैं—

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः॥६०॥

१. 'अह व्याप्तौ' धातु से बनकर 'अहम्' शब्द उस प्रभु का वाचक है जोकि 'अह्नोति सर्वं जगद् व्याप्नोति'=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने के कारण सर्वव्यापक हैं। वे सर्वव्यापक प्रभु ही **अहम्**=जोकि 'अहं' शब्द वाच्य हैं **अस्य भुवनस्य नाभिं वेद**=इस

ब्रह्माण्ड के बन्धनस्थान को जानते हैं। 'इस ब्रह्माण्ड का धारण कैसे हो रहा है? यह किसमें बँधा हुआ गिरकर नष्ट नहीं हो जाता?' यह सब बात उस सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय है। २. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक को **वेद**=जानते हैं। इन लोकों का ठीक-ठीक स्वरूप सामान्य मनुष्य के ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? **'अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन**=इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही देव भी हुए' अतः देव भी इसे पूरा-पूरा नहीं जानते। मनुष्यों के जान सकने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ३. वे सर्वव्यापक प्रभु ही **बृहतः**=इस महान् **सूर्यस्य**=सूर्य के **जनित्रम्**=जन्म को **वेद**=जानता है। सूर्य को वे प्रभु ही जन्म देनेवाले हैं, अतः वे ही सूर्य के जन्म आदि को जानते हैं। ४. **अथो**=और वे प्रभु ही **चन्द्रमसम्** =चन्द्रमा को **यतोजाः**=जैसे यह उत्पन्न हुआ, वैसे जानते हैं। मनुष्य के ज्ञान से ये बातें परे हैं। वस्तुतः इस संसार के जन्म-धारण व प्रलय आदि को ठीक-ठीक जान सकना मानव के लिए सम्भव ही नहीं। वेद कहता है **'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः'**=कौन-साक्षात् जानता है और कौन इसका प्रतिपादन कर सकता है कि यह विविध सृष्टि कहाँ से आ गई? किस प्रकार इसका जन्म हो गया? यह सब 'अतर्क्य व अविज्ञेय'-सा ही है। इसे केवल **अहम्**=सर्वव्यापक प्रभु ही जानते हैं।

भावार्थ—इस भुवन का बन्धन कहाँ है? द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक क्या हैं, महान् सूर्य का जन्म कैसे हुआ तथा चन्द्रमा कहाँ से हुआ है? ये सब बातें एकमात्र सर्वव्यापक प्रभु के ही ज्ञान का विषय हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**प्रष्टा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार आवश्यक प्रश्न

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णोऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥६१॥

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**समाधाता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳसोमो वृष्णोऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥६२॥

१. अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है कि (क) **त्वा**=आपसे मैं **पृथिव्याः**=पृथिवी के **परमन्तम्**=परले सिरे को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यहाँ—यज्ञवेदि पर जहाँ हम बैठे हैं यह पृथिवी का एक सिरा हो तो इसका परला सिरा कहाँ होगा? (ख) उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि ही तो **पृथिव्याः**=पृथिवी का **परःअन्तः**=परला अन्त है, क्योंकि वृत्ताकार होने से पृथिवी जहाँ से प्रारम्भ होती है, वहीं आकर समाप्त होगी। वृत्ताकार वस्तु की परिधि का जहाँ से प्रारम्भ मानें वहीं उसका अन्त भी है। पृथिवी की वृत्ताकारिता को इससे अधिक सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित कैसे किया जा सकता है? २. दूसरा प्रश्न है **पृच्छामि**=मैं पूछता हूँ उस वस्तु को **यत्र**=जिसमें **भुवनस्य**=इस भुवन का **नाभिः**=बन्धन है, आधार है, अर्थात् किस वस्तु के न होने पर यह लोक नष्ट हो जाएगा? उत्तर देते हुए कहते हैं **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ-सर्वव्यापक प्रभु (यज्ञो वै विष्णुः) **भुवनस्य नाभिः**=इस भुवन के आधार हैं। प्रभु के सर्वस्व त्याग ने ही ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। ३. तीसरा प्रश्न पूछता हुआ वह कहता है कि मैं **वृष्णः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति को **पृच्छामि**=

जानना चाहता हूँ। इस पुरुष की शक्ति का रहस्य किस वस्तु में है? उत्तर देते हुए अध्वर्यु कहते हैं कि **अयं सोमः**=सोम–शरीर में रस-रुधिरादिक्रम से उत्पन्न होनेवाला वीर्य ही **वृष्णः**=शक्तिशाली लोगों पर सुखों की वर्षा करनेवाले **अश्वस्य**=कर्मव्याप्त पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। सोम की रक्षा के अनुपात में ही वह सशक्त बनता है। ४. चौथा प्रश्न है कि मैं **वाचः**=वाणी के **परमं व्योम**=उत्कृष्ट स्थान को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देता हुआ अध्वर्यु कहता है **अयं ब्रह्मा**=यह सम्पूर्ण सृष्टि का बनानेवाला प्रजापति ही **वाचः**=वाणी का **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, लोक में भी ब्रह्मा वह कहलाता है जो सम्पूर्ण वेद का ज्ञान रखता है। वह सम्पूर्ण वेद का स्थान=आधार तो बन ही गया। वैसे, सारे वेद उस प्रभु का ही वर्णन करते हैं, **'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति'** तथा **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'** इन मन्त्रांशों में यही बात कही गई है। उस **ब्रह्म**=सृष्टिनिर्माता प्रभु का ही वेदमन्त्रों में प्रतिपादन है, अतः ब्रह्मा ही वाणी के **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं।

भावार्थ–'वेदि' ही पृथिवी का पर-अन्त है।' यज्ञ भुवन का आधार है। सोम शक्ति देने के साथ ज्ञानाग्नि का भी वर्धन करता है और हमें वेदवाणी को समझने की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**समाधाता**। छन्दः–**विराडनुष्टुप्**। स्वरः–**गान्धारः**।

सुभू-स्वयंभू-प्रथम

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥६३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति और वस्तुतः ब्रह्मादि के 'ब्रह्मोद्य'=ज्ञानचर्चा की समाप्ति इस बात पर हुई थी कि सारी वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। उसी सृष्टि के उत्पत्तिकर्ता (ब्रह्म) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वह **'सुभूः'**=(सुष्ठु भूः उत्पत्तिर्यस्मात्–उ०) इस विश्व का उत्तम उत्पादन करनेवाला है, परन्तु उसे कोई बनानेवाला नहीं। वह तो **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाला है। वह सदा से विद्यमान है, खुद-आ है। २. **प्रथमः**=सबका आदि है। 'प्रथ विस्तारे'=अत्यन्त विस्तृत, सर्वव्यापक है। वह **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् प्रकृति के अणुसमुद्र के अन्दर विद्यमान है। वस्तुतः उसी की सत्ता के कारण यह महान् अणुसमुद्र भी सत्तावाला प्रतीत होता है, वही इस समुद्र को प्रथम गति देनेवाला है। ३. **ह**=निश्चय से वह स्वयम्भू **ऋत्वियम्**=(प्राप्तकालं) जिसका ठीक समय उपस्थित हुआ है उस **गर्भं दधे**=गर्भ को धारण करता है। काव्यभाषा में इस ब्रह्माण्ड की प्रकृति माता है तो प्रभु पिता हैं। वे प्रभु इस प्रकृति में बीज का धारण करते हैं और ये सब मूर्त्तियाँ (मूर्त्त वस्तुएँ) उत्पन्न हो जाती हैं। गीता में कहते हैं–**'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'**। ४. **यतः**=प्रभु के प्रकृति में जिस गर्भ धारण करने पर **प्रजापतिः जातः**=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया। **माता प्रजाता**=माता ने बच्चे को जन्म दिया, जिससे माता पैदा हो गई। इसी प्रकार 'प्रजापतिः जातः'=प्रजापति ने संसार को जन्म दे दिया, प्रजापति बन गया।

भावार्थ–वे प्रभु 'सुभू, स्वयम्भू व प्रथम हैं। अणुसमुद्र के अन्दर भी विद्यमान हैं। वे इसमें गर्भ का धारण करते हैं और संसार के सब पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं।

ऋषिः–**प्रजापतिः**। देवता–**ईश्वरः**। छन्दः–**विराडुष्णिक्**। स्वरः–**ऋषभः**।

सोम की महिमा से प्रभु-मेल

होता यक्षत्प्रजापतिꣳसोमस्य महिम्नः। जुषतां पिबतु सोमꣳहोतर्यज॥६४॥

१. गतमन्त्र के 'सुभू-स्वयंभू-प्रथम' **प्रजापतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक परमात्मा को **होता**=आहुतियों का देनेवाला त्यागशील पुरुष ही **यक्षत्**=अपने साथ सङ्गत करता है। त्याग न करनेवाला पुरुष प्रकृति का अधिकाधिक संग्रह करता हुआ उसी में उलझा रहता है। प्रकृति का त्याग करके ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। २. यह होता **सोमस्य महिम्नः**=सोम की महिमा से **जुषताम्**=उस प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। भोगों से ऊपर उठकर सोम की रक्षा करनेवाला पुरुष ही परमात्मा को पानेवाला बनता है। सोम की रक्षा से, इस सोम के ज्ञानाग्नि का ईंधन बनने पर बुद्धि सूक्ष्म होती है और उस प्रभु का आभास लेनें के योग्य होती है, इसीलिए सोम की इस महिमा को समझकर मनुष्य **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। इस सोम की रक्षा से ही मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर त्याग की वृत्तिवाला बन पाता है। भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोमरक्षा होती है, सोमरक्षा से भोगवृत्ति का ह्रास होता है। इस प्रकार ये परस्पर उपकारी होते हैं। ३. इन दोनों का आश्रय प्रभु-स्मरण है, अतः मन्त्र की समाप्ति पर कहते हैं कि हे **होतः**=त्यागशील पुरुष! तू **यज**=उस प्रभु का पूजन कर, उसे अपने साथ सङ्गत कर, उसके प्रति तू अपना अर्पण करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए यही मार्ग है कि मनुष्य (क) त्याग की वृत्तिवाला बने तथा (ख) सोम का शरीर में ही रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वत्र समप्रभु

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयꣳस्याम पतयो रयीणाम्॥६५॥

१. सोम की रक्षा से प्रभु-सम्पर्क करनेवाला आराधना करता है कि हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न कोई और **ता विश्वा रूपाणि**=उन सम्पूर्ण प्राणियों को (रूपाणि पशवः) **न परिबभूव**=नहीं व्याप्त कर रहा। आप ही सबके अन्दर व्याप्त हो रहे हैं। आप ही सबकी रक्षा कर रहे हैं। 'विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में व श्वपाक में, सबमें आप ही समाये हुए हैं। समरूप से आपका ही सबमें दर्शन करनेवाला किसी से घृणा कैसे कर सकता है? २. हे प्रभो! **यत्कामाः**=जिस कामनावाले हम **ते जुहुमः**=आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. सर्वप्रथम बात यह है कि **वयम्**=हम कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों। इन धनों के कभी दास न हो जाएँ। धनों के दास बनने पर मनुष्य इनको टेढ़े-मेढ़े साधनों से जुटाने का प्रयास करता है और संसार विकृत होने लगता है, अतः हम यही चाहते हैं कि धन हमारा स्वामी न बन जाए। यह हमपर आरुढ़ न हो जाए। हम इसके वाहन उल्लू बनकर सब सत्कर्म को समाप्त न कर बैठें (उल् लू)।

भावार्थ—प्रभु ही सबमें विद्यमान हैं। हे प्रभो! समवृत्ति बनकर हम धन के कभी दास न बन जाएँ। इसके दास बनकर ही हम हीनमार्ग पर जाते हैं और मांसादि भोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं।

इति त्रयोविंशोऽध्यायः॥